

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥

वर्ष

८९

गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०७१, श्रीकृष्ण-सं० ५२४०, जनवरी २०१५ ई०

संख्या

१

पूर्ण संख्या १०५८

सेवकद्वारा सेव्यकी आराधना

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम
उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो
ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥
यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥

[श्रीहनुमान्जी अपने परम सेव्यकी स्तुति करते हुए कहते हैं—] हम ॐकारस्वरूप पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं। आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं; आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधनतत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिये कसौटीके समान और अत्यन्त ब्राह्मणभक्त हैं। ऐसे महापुरुष महाराज राम को हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है।

भगवन्! आप विशुद्ध बोधस्वरूप, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे गुणोंके कार्यरूप जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका निरास करनेवाले, सर्वान्तरात्मा, परम शान्त, शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जानेयोग्य, नाम-रूपसे रहित और अहंकारशून्य हैं; मैं आपकी शरणमें हूँ। [श्रीमद्भागवत]

‘सेवा-अङ्क’ की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१- सेवकद्वारा सेव्यकी आराधना	११	२५- सेवा कैसे करें ? (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७७
शुभाशंसा—		२६- भक्तिमती मीराका दास्य-भाव (गोलोकवासी सन्त पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)	७९
२- श्रुतिसेवादर्शन—सौमनस्य	१९	२७- सेवाका अवसर प्राप्त होना—महान् अहोभाग्य है (गोलोकवासी पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराजके सदुपदेश)	८२
३- ‘अतिथिदेवो भव’	२१	२८- माता-पिताकी सेवाके कतिपय अनुकरणीय उदाहरण (गोलोकवासी पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)	८३
४- सेवापथ	२२	आशीर्वाद—	
५- सेवामय जीवन—एक व्यावहारिक दर्शन (राधेश्याम खेमका)	२३	२९- भगवत्सेवाकी महत्ता (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ श्रृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)	८७
प्रसाद—		३०- ‘ऐसे राम दीन-हितकारी’ [विनय-पत्रिका]	८८
६- सेवाधर्मके प्रतिष्ठाता भगवान् साम्बसदाशिव और उनके सेवोपदेश	३१	३१- सेवातत्त्व-मीमांसा (अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदा-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दसरस्वतीजी महाराज)	८९
७- सेवककी इच्छा क्या !	३५	३२- प्राणि-सेवासे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति	९२
८- भगवान् श्रीरामद्वारा स्थापित सेवामर्यादा	३६	३३- सेव्य-सेवक-सेवा-स्वरूपविमर्श (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)	९३
९- ‘सर्वभूतहिते रताः’ [भगवान् श्रीकृष्णके सेवासम्बन्धी अमृत-वचन]	३९	३४- परोपकाराय सतां विभूतयः (अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्दसरस्वतीजी महाराज)	९६
१०- हे प्रभु ! मैं सेवक तुम स्वामी [कविता] (श्रीसुखनारायणजी मिश्र)	४३	३५- ‘चिरकारी प्रशस्यते’ [महाभारत, शान्तिपर्व]	९७
११- राजर्षि मनु और उनका सेवा-विधान	४४	३६- श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनकी परम्परामें सेवाका स्वरूप (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ‘श्रीजी’ महाराज)	९८
१२- सती देवहृतिकी पतिसेवा और भगवत्सेवा	५०	३७- सेवातत्त्वमीमांसा (परमपूज्य सन्त श्रीहरिहरजी महाराज दिवेगाँवकर)	९९
१३- भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्य और उनका सेवा-दर्शन	५३	३८- सेवामय-जीवन (गीतामनीषी स्वामी श्रीवेदान्तानन्दजी महाराज)	१०१
१४- प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरेका सेवक है	५७	३९- सेवा-धर्म (मलूकपीठाधीश्वर संत श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)	१०४
१५- सर्वोच्च ध्येय (ब्रह्मनिष्ठ सन्त पूज्यपाद श्रीउडियाबाबाजी महाराजके सेवोपदेश)	५८	४०- सेवामीमांसा (ब्रह्मचारी श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी महाराज)	१०५
१६- दास्ययोग (ब्रह्मलीन धर्मसम्प्रदाट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	५९	४१- ‘सेवा’ मोक्षका मार्ग (श्रीप्रह्लादजी गोस्वामी, एम०ए०, ‘मानसहंस’)	१०८
१७- सेवा, सहानुभूति और उदारता (ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजीके अमृत-वचन) [प्रेषक—श्रीसंकटासिंहजी]	६१		
१८- सेवा-निष्ठा (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)	६३		
१९- भक्ति अर्थात् सेवा (स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)	६६		
२०- सेवासे परम कल्याण (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	६८		
२१- निरपेक्ष सेवा-धर्म (संत श्रीविनोबा भावे)	७१		
२२- सेवाका स्वरूप (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	७३		
२३- धर्मका अंग है माता-पिताकी सेवा (गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी) [प्रेषक—श्रीअनिरुद्धजी गोयल]	७५		
२४- सेवागंगा [कविता] (डॉ० श्रीगुणप्रकाशचैतन्यजी महाराज)	७६		

विषय

पृष्ठ-संख्या

विषय

पृष्ठ-संख्या

सेवाके विविध आयाम—

भगवत्सेवा

४२- सेवा और भगवत्कैकर्य (शास्त्रार्थपंचानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)	१०९
४३- भगवत्सेवाका विशिष्ट स्वरूप और साधन (श्रीभैरवलालजी परिहार)	११२
४४- भगवत्सेवाका स्वरूप तथा माहात्म्य (अनुरक्तिमार्गीय वैष्णवाचार्य गोस्वामी श्रीराधामोहनदासजी महाराज) [प्रेषक—श्रीप्रेमानन्ददासजी ब्रह्मचारी]	११५
४५- सेवा धर्मके आदर्श—श्रीराम (डॉ० श्रीतारकेश्वरजी उपाध्याय)	११७
४६- दास्य-रतिके अनुपम आदर्श श्रीहनुमान्जी (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी द्विवेदी)	१२२
४७- सेवा-निष्ठाका चमत्कार [श्री 'चक्र' जी]	१२७
४८- 'सब तें सेवक धरमु कठोरा' [श्रीभरतजीका सेवादर्शन] (आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा)	१२८
४९- मुनि सुतीक्ष्णजीकी दास्यभक्ति (श्रीगजाननजी पाण्डेय)	१३३
५०- युवराज अंगदका सेवाभाव [नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ] (श्रीसुरेन्द्र कुमारजी गर्ग, एम०ए०)	१३५
५१- निषादराज गुहकी श्रीराम-सेवा (श्रीआनन्दीलालजी यादव, एम० ए०, एल-एल० बी०)	१३६
५२- गृध्रराज जटायुकी श्रीरामके प्रति निष्काम सेवा	१३९
५३- भक्तिमती मीराजीकी सेवकाई (आचार्य डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी मिश्र)	१४०
५४- सालबेगकी भगवत्सेवा (आचार्य डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', एम०ए०, डी०लिट०)	१४२
५५- भगवती अन्नपूर्णाकी गृह-परिचर्या (आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम०ए०, पी-एच०डी०)	१४४
५६- जनाबाईकी भक्तसेवा [भक्तसेवासे भगवद्दर्शन]	१४७
५७- पतिव्रता लक्ष्मीबाईकी संतसेवा	१४८
५८- पीपादम्पतीकी अद्भुत संतसेवा	१५०
५९- सरयूदासकी संतसेवा	१५१
६०- भक्त धनुर्दासदम्पतीकी संतसेवा	१५२

माता-पिता एवं गुरुसेवा

६१- वृद्ध माता-पिताकी सेवा (श्रीरमेशचन्द्रजी बादल, एम०ए०, बी०एड०, विशारद)	१५३
६२- मातृ-पितृसेवा (डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी गौड़, एम०ए०, एम०फिल०, पी-एच०डी०)	१५७
६३- माँसे बड़ा न कोय (आचार्य श्रीब्रजबन्धुशरणजी)	१६०

६४- निष्काम सेवाव्रती माँ (श्रीशुभंकर बाबू, एम०ए०)	१६३
६५- वृद्धजनोंकी सेवा—व्यावहारिक समस्याएँ एवं समाधान (श्री आर० पी० सिंहजी, ए०एम०आई०ई०, इलेक्ट्रानिक्स)	१६४
६६- पितृसेवाके आदर्श निदर्शन—'सुकर्मा' (डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय')	१६६
६७- पितृभक्त सोमशर्मा	१६९
६८- पितृभक्त खलासी-बालक	१७०
६९- श्रवणकुमारकी मातृ-पितृसेवा	१७१
७०- भीष्म पितामहकी पितृसेवा	१७३
७१- आरुणिकी गुरुसेवा	१७४
७२- उपमन्युकी गुरुसेवा	१७५
७३- छत्रपति शिवाजीकी आदर्श गुरुसेवा	१७६
७४- 'गुरु-सेवासँ बाढिकै धर्म ने दोसर आन' [गुरुसेवाका एक दृष्टान्त] (श्रीनागानन्दजी)	१७७

अतिथिसेवा

७५- भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सेवा (डॉ० श्रीजगदीशसिंहजी राठौर)	१७८
७६- महर्षि मुद्गलकी अतिथि-सेवा	१८०
७७- कपोत-दम्पतीकी अतिथि-सेवा	१८१
७८- भक्त दामोदर दम्पतीकी अतिथि-सेवा	१८२
७९- सती श्रुतावतीकी अतिथि-सेवा	१८४
८०- महाराणाकी अतिथि-सेवा	१८५
८१- विद्यासागरकी अतिथि-सेवा	१८६
८२- विनायकदेवकी अतिथिसेवा और शिवाजीकी ब्राह्मण भक्ति	१८६
८३- स्वामी टेऊरामजीकी अतिथि-सेवा (प्रेमप्रकाशी श्रीनवीनकुमारजी)	१८८

पतिसेवा

८४- सती सावित्रीका पातिव्रतधर्म	१८९
८५- पतिव्रताके सदाचरण [द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद]	१९५
८६- सती सुकन्याकी पतिसेवा	१९७
८७- सती बहिणाबाईकी पतिसेवा	२००
८८- पतिसेवासे भगवद्दर्शन [भक्त शान्तोबाकी सती धर्मपत्नीकी कथा]	२०१
८९- पतिसेवाकी मूर्ति सती भोगवती	२०३
९०- भामतीकी अद्भुत पति-सेवा (श्रीयुत एस० एस० बोरा)	२०५

रोगियों एवं दीन-दुखियोंकी सेवा

९१- दीनोंकी निःस्वार्थ सेवा—सच्ची भगवत्सेवा (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)	२०८
९२- असहायोंकी सेवा सच्ची सेवा है (श्रीशिवरतनजी मोरोलिया 'शास्त्री', एम० ए०)	२१०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
९३- महाराज रन्तिदेवकी आर्तजनकोंकी सेवा	२११	११९- हमीद खाँ भाटीकी गोसेवा (श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)	
९४- प्राणिमात्रकी सेवाके आदर्श—महामना पं० मदनमोहन		[प्रेषक—श्रीनन्दलालजी टाँटिया]	२५०
मालवीय (श्री एम० जी० दीक्षित)	२१२	१२०- हुमायूँकी गोभक्ति	२५२
९५- ईश्वरचन्द्र विद्यासागरकी दीन-दुखियोंके प्रति		१२१- गोसेवाका साक्षात् फल	
सेवा-भावना	२१५	(स्वामी श्रीभूमानन्दजी)	२५३
९६- नाग महाशयके सेवाभावके कतिपय प्रसंग	२१६	१२२- गोसेवाके आदर्श—बाबा हरिरामजी गाय-ग्वाला	
९७- राष्ट्रपिता गांधीजी—सेवाके अन्तरंग संस्मरण		(श्रीसांवरमलजी विश्राम)	२५४
(' राष्ट्रश्री ' डॉ० श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)	२१७	१२३- गौ-सेवाने बदला जीवन	
९८- श्रीचैतन्य महाप्रभुका सेवा-भाव	२२०	(डॉ० श्रीराजकुमारजी शर्मा)	२५६
९९- सन्त फ्रांसिसका आदर्श सेवा-भाव	२२१	१२४- हंसादेवीकी गोसेवा (श्रीधारेन्द्रकुमारजी ' धीरज ')	२५८
१००- सन्त सेरापियोंकी दीन-दुखियोंकी सेवा	२२२	१२५- हिन्दी-कवियोंकी गो-भक्ति	
१०१- रानी एलिजाबेथकी दीन-दुखियों और		(श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)	२६०
कुष्ठ-रोगियोंकी सेवा	२२२	समाजसेवा एवं देशसेवा	
१०२- फादर दामियेन—कोढ़ियोंका देवता		१२६- अनुकरणीय है सम्राट् अशोकका सेवा-भाव	
(जे० पी० वास्वानी) [नवनीत-सौरभ]	२२५	(डॉ० श्रीराजेशकुमारजी सिन्हा ' रवि ', एम०ए०,	
१०३- पूंजा बाबाकी पीड़ित वन्य पशु-पक्षियोंकी		पी-एच०डी०, डी०लिट०)	२६४
सेवा-साधना (श्रीश्यामजी संन्यासी)		१२७- देशभक्ति और समाजसेवाके महान् प्रेरक	
[नवनीत-सौरभ]	२२७	स्वामी रामतीर्थ (डॉ० श्रीविद्यानन्दजी ' ब्रह्मचारी ',	
१०४- चिकित्सक और सेवाधर्म (वैद्य श्रीगोपीनाथजी		एम०ए०, बी०एड०, पी-एच०डी०, डी०लिट०,	
पारीक ' गोपेश ' भिषगाचार्य)	२२९	विद्यावाचस्पति)	२६५
१०५- चिकित्सा-सेवा		१२८- लोकमान्य तिलककी देश सेवा	२६८
(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, एम०डी०ए०)	२३०	१२९- गुरु तेगबहादुरकी समाजसेवा	
१०६- रोगीकी सेवा—भगवान्की सेवा		(श्रीशिवकुमारजी गोयल)	२६९
(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)	२३२	१३०- रमाबाई रानडेकी समाज-सेवा	२७०
गोसेवा		१३१- समाज-सेवाका एक दृष्टान्त	
१०७- गोसेवा-धर्म	२३४	(श्रीप्रह्लादजी गोस्वामी, एम०ए०, ' मानसहंस ')	२७२
१०८- गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान		१३२- देशसेवाकी बलिवेदीपर तीन वीर क्षत्राणियाँ	
[सत्यकाम जाबालकी गोसेवा]	२३७	[कर्मदेवी, कमलावती और कर्णवतीकी शौर्यगाथा] ..	२७२
१०९- भगवान् श्रीकृष्णकी गो-सेवा	२३८	१३३- माता कस्तूरबाकी देश-सेवा	२७४
११०- महर्षि आपस्तम्बकी गोनिष्ठा	२३९	१३४- रानी वाक्पुष्टाकी प्रजासेवा	२७७
१११- गो-सेवाका शुभ परिणाम		१३५- साध्वी एलिजाबेथ फ्राईकी समाज-सेवा	२७८
[महाराज दिलीपकी गोसेवा]	२४२	१३६- सार्वजनिक सेवाके लिये माँगका अद्भुत त्याग	२८०
११२- गोभक्त लोटनकी गोसेवा		१३७- हागामुचीकी जनसेवा	२८०
(श्रीरघुनाथसिंहजी राणा)	२४४	१३८- डॉक्टर ऐनी बेसेंटकी भारत-सेवा	
११३- सन्त आसूदारामजीकी विलक्षण गोसेवा	२४४	(डॉ० मुहम्मद हाफिज सैयद, एम०ए०,	
११४- गोभक्त दरबार जीवावाला हरसुरवालाकी		पी-एच०डी०, डी०लिट०)	२८१
गोसेवा—कमलाबा	२४४	१३९- एक जापानी सैनिककी अद्भुत देशसेवा	२८३
११५- एक जर्मन महाशयकी गोसेवा		१४०- समाजके प्रति पक्षियोंका सेवाकार्य	
[प्रेषक—बी० श्रीमीटालालजी जोशी]	२४५	(श्रीउमेशप्रसादसिंहजी)	२८४
११६- आदर्श गोभक्त सेठ शिवलदासजीकी गोसेवा		१४१- रेडक्रॉस—एक समर्पित सेवा-संस्था	
[श्रीदरबार साहब, भाई परसरामजी]	२४७	(डॉ० श्रीयमुनाप्रसादजी)	२८६
११७- रीवाँनरेशकी गोसेवा	२४८	१४२- स्काउट-गाइड-आन्दोलन (डॉ० श्रीरामदत्तजी शर्मा,	
११८- जाम्भोजीकी गोसेवा (श्रीमाँगीलालजी बिश्नोई		एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०,	
' अज्ञात ', एम०ए०, बी०एड०)	२४९	साहित्याचार्य)	२८८

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
धर्मसेवा			
१४३- राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्राकी धर्मसेवा	२८९	१६७- सेवा—सर्वोत्तम साधना एवं सर्वोच्च सफलता (प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', डी०लिट०) ...	३३४
१४४- धर्मप्रचारके लिये जीवनकी आहुति देनेवाले विद्यार्थी	२९१	१६८- सेवा परम धर्म है (डॉ० मधुजी पोद्दार, एम०डी०)	३३६
१४५- गुरु गोविन्दसिंहकी धर्मसेवा	२९२	१६९- जीवनका सच्चा सुख—निःस्वार्थ सेवा (श्रीकृष्णचन्द्रजी टवाणी)	३३७
१४६- धर्मसेवा में अमर शहीद ये चार लाड़ले (आचार्य श्रीसूर्यदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ, विशारद)	२९३	१७०- सेवा-धर्म ('मानस-केसरी' पं० श्रीबाल्मीकिप्रसादजी मिश्र, एम०ए०, एम०एड०)	३४२
१४७- धर्मव्रती बालक मुरलीमनोहर (भक्त श्रीरामशरणदासजी)	२९५	१७१- 'सेवया किं न लभ्यते' (श्रीयुत कुँवर सुरेन्द्रसिंहजी सिसौदिया 'रामचाकर')	३४४
१४८- धर्मकी बलिवेदीपर हकीकतरायका बलिदान (श्रीमदनगोपालजी सिंहल)	२९८	१७२- सेवा करो, मेवा पाओ—सेवाके विभिन्न प्रकार (श्रीजगदीशचन्द्रजी मेहता)	३४५
१४९- धर्मके दीवाने पिता-पुत्र	२९९	१७३- सेवाके लिये सामग्री नहीं, हृदयकी उदारता चाहिये (डॉ० श्रीमृत्युंजयकुमारजी त्रिपाठी)	३४८
१५०- कुमारिल भट्टकी धर्मसेवा (पं० श्रीमायादत्तजी पाण्डेय शास्त्री, साहित्याचार्य, वेदतीर्थ, वेदान्तकेसरी)	३०१	१७४- 'सेवा अस्माकं धर्मः' (श्रीकुलदीपजी उप्रेती)	३५०
स्वामिभक्ति		१७५- सेवा क्यों, कैसे, कब और किसके लिये की जाय ? (डॉ. (ले० जनरल) श्रीशिवरामजी मेहता, एम०डी० (मेडिसीन))	३५७
१५१- संयमरायकी अपूर्व स्वामिभक्ति	३०२	१७६- संत-सेवा [कविता] (पंचरसाचार्य श्रद्धेय स्वामी रामहर्षणदासजी महाराज)	३५९
१५२- दुर्गादासकी स्वामिभक्ति	३०३	[प्रेषक—पं० श्रीरामायणप्रसादजी गौतम]	३५९
१५३- वीर आयाकी स्वामिभक्ति	३०३	१७७- शिवके अष्टरूप निरन्तर सेवा-संलग्न हैं (आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)	३६०
१५४- सेवककी कर्तव्यनिष्ठा	३०४	१७८- सेवा—कर्तव्य और अधिकार (श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु)	३६१
१५५- पन्ना धायकी बलिदानी स्वामिभक्ति	३०५	१७९- वृद्धाश्रम—एक अनुभूति (श्रीरामदयालजी)	३६२
प्रकृतिसेवा एवं विश्वसेवा		१८०- माताकी सेवा	३६६
१५६- धरतीमाताकी सेवा (डॉ० श्रीब्रह्मानन्दजी)	३०६	१८१- सेवाके सुअवसर बार-बार नहीं आते ! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)	३६७
१५७- प्रकृति-सेवाका सहज एवं सुलभ साधन—वृक्षारोपण (श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्य, एम०ए०, साहित्यरत्न)	३०७	१८२- मानवता	३७२
१५८- विश्व-सेवा (श्रीशिवजी शास्त्री)	३१०	१८३- निष्काम सेवा-शुश्रूषा : स्वत्व और महत्व (डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम०ए० (संस्कृत), एल-एल०बी०, पी-एच०डी०)	३७३
१५९- सच्चे मानवकी दृष्टि [जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है] (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	३११	१८४- तीर्थजलको कभी दूषित न करे (शाण्डिल्यस्मृति)	३७४
सेवातत्त्व-विमर्श—		१८५- 'सेवा ही सिद्धियोग है' (प्रो० डॉ० श्रीश्यामजी शर्मा वाशिष्ठ, एम०ए०, पी-एच०डी०)	३७५
१६०- सेवातत्त्व-विमर्श (आचार्य श्रीशशिनाथजी झा)	३१७	१८६- सेवाका स्वरूप [श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी]	३७७
१६१- 'सेवा करो, प्रेम करो' [स्वामी श्रीशिवानन्दजी महाराज]	३२०	१८७- निःस्वार्थ सेवा—सर्वोत्कृष्ट उपासना (डॉ० श्रीमती पुष्पारानीजी गर्ग)	३७८
१६२- सेवा शब्दका अर्थ-विस्तार (एकराट् पं० श्रीश्यामजीतजी दुबे 'आथर्वण')	३२१	१८८- नौ आवश्यक कर्म (दक्षस्मृति)	३८१
१६३- 'जीवन-साफल्यका अमोघ उपाय—सेवा' (डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)	३२७	१८९- सेवासे शान्ति (साधु श्रीनवलरामजी शास्त्री)	३८२
१६४- सेवाधर्मकी महिमा एवं प्रयोजन (श्रीगदाधरजी भट्ट)	३३१	१९०- अष्टयाम सेवा-साधना (श्रीसियाशरणजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न)	३८४
१६५- 'सेवा है आधार' [कविता] (श्रीजेठमलजी वर्मा 'नागी')	३३२		
१६६- देहाध्यास (अहंकार)—को मिटानेका आसान तरीका—सेवा (सन्त थानेदार ठाकुर साहिब श्रीरामसिंहजी भाटी)	३३३		

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१९१- लोकसेवा	३८७	२१४- भगवान्की मानसी सेवाका एक दृष्टान्त (विद्यावाचस्पति डॉ० श्री आर० वी० त्रिवेदी)	४४२
१९२- संयुक्त परिवारकी आधारशिला—सेवाधर्म (डॉ० माला द्वारी)	३८८	२१५- सेवासे जीवन कृतार्थ—दो अनुभूतियाँ (पं० श्रीरामजी लाल जोशी)	४४४
१९३- सेवा अस्माकं धर्मः (श्री बी० एस० रावत 'चंचल')	३८९	२१६- सेवामूर्ति 'नरभराम' (श्रीबालमुकुन्दजी दवे)	४४६
१९४- सेवा एवं मानव धर्म (डॉ० श्रीगिरिजाशंकरजी शास्त्री)	३९२	२१७- 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' [कविता] (डॉ० श्रीजमुनाप्रसादजी बडैरिया)	४४८
१९५- 'सकाम और निष्काम सेवा' (श्रीमती श्रद्धाजी तिवारी 'नन्दनी')	३९५	सत्साहित्यमें सेवादर्शन—	
१९६- सेवासर्वस्व (डॉ० श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल)	३९८	२१८- वेदोंमें सेवोपदेश (स्वामी श्रीविवेकानन्दजी सरस्वती) .	४४९
१९७- 'सेवा कल्प विटप सम, सेइहिं अवसि सुजान' (आचार्य श्रीवेदप्रकाशजी मिश्र, शोधच्छात्र)	३९९	२१९- स्मृतिवाङ्मयमें सेवा-धर्मकी महिमा (डॉ० श्रीनिवासजी आचार्य, एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०)	४५०
१९८- सेवाकी महिमा एवं सेवाका स्वरूप (डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)	४०२	२२०- नीतिमंजरीके सेवापरक आख्यान (डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम०ए०, पी-एच०डी०)	४५४
सेवाके प्रतिमान—प्रेरक प्रसंग—		२२१- सेवा धर्मका पावन अधिष्ठान—श्रीरामचरितमानस (डॉ० श्रीराधानन्दजी सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, एल० एल० बी०, बी० एड०)	४५८
१९९- भगवान् बने सेवक [चार दृष्टान्त] (डॉ० श्रीअशोकजी पण्ड्या)	४०५	२२२- गौतमीय तन्त्रोक्त भगवत्सेवाके पंच प्रकार (पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय 'किशन महाराज') ...	४६२
२००- सेवाके दो अनूठे दृष्टान्त (पं० श्रीरामशर्माजी आचार्य)	४११	२२३- बिश्नोई-सम्प्रदायमें सेवादधर्मकी महिमा (श्रीविनोद जम्भदासजी करवासड़ा)	४६४
२०१- भगवान्द्वारा भक्तोंकी सेवा-लीला (डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा)	४१३	२२४- वैष्णव-सम्प्रदायमें अष्टयामसेवा (श्रीसुधाजी त्रिपाठी)	४६७
२०२- सेवाका पथ—जहाँ काँटे भी फूल बनते हैं (श्रीपुष्करलालजी केडिया)	४१६	२२५- श्रीमद्भागवतमें सेवा-दर्शन (पं० श्रीव्यासनन्दनजी ओझा) ..	४७०
२०३- मैंने देखीं कुछ अनुपम सेवाएँ (प्रेमप्रकाशी श्रीचन्दजी पंजवानी)	४१८	२२६- चरकसंहितामें वर्णित सेवाका स्वरूप (प्रो० श्रीअनूपकुमारजी गक्खड़)	४७४
२०४- सेवासे सम्बन्धित प्रेरणाप्रद प्रसंग (श्रीशिवकुमारजी गोयल) [प्रेषक—श्रीधर्मेन्द्रजी गोयल]	४१९	२२७- कालिदासके काव्योंमें सेवाभाव (श्रीशिवनाथजी पाण्डेय शास्त्री, एम० ए०)	४७६
२०५- सेवा-भावका एक मनोरम दृष्टान्त (डॉ० श्रीवासुदेवलालजी दास, पी-एच०डी०)	४२२	२२८- मराठी सन्तोंका सेवाभाव (डॉ० श्रीभीमाशंकरजी देशपाण्डे)	४७९
२०६- 'सेवा तें मेवा मिलें' [तीन प्रेरक प्रसंग] (आचार्य डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', एम० ए०, डी० लिट०)	४२४	२२९- स्वामी श्रीनितानन्दजी और उनके सेवोपदेश (महन्त श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)	४८३
२०७- सेवाके दृष्टान्त (श्रीअमृतलालजी गुप्त)	४२५	२३०- पद-रत्नाकरमें सेवा-धर्म (विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीदिनेशचन्द्रजी उपाध्याय, एम० एस० सी०, पी-एच० डी०)	४८६
२०८- सेवामूर्ति सिररन बरुआ (श्रीरामस्वरूपजी पाण्डेय) ...	४२७	२३१- सेवाभावी भक्तोंका स्वरूप [श्रीमद्भागवत]	४८८
२०९- सेवा—मेरे तीन अनुभव (डॉ० जी०डी० बारचे, एम०ए०, पी०जी०डी०टी०ई०, पी-एच०डी०)	४३०	सेवा और आत्मोद्धार—	
२१०- सच्ची सेवाके चार दृष्टान्त (श्रीनागानन्दजी)	४३२	२३२- सेवाके मार्गसे मुक्ति (ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)	४८९
२११- सेवा-धर्मके प्रेरक प्रसंग (प्रो० श्रीबालकृष्णजी कुमावत)	४३५	२३३- परमार्थप्राप्तिका सोपान—सेवा (आचार्य श्रीगोविन्दरामजी शर्मा)	४९१
२१२- सेवासम्बन्धी अनुभूतियाँ (श्रीमथुराप्रसादजी कोरी)	४३९	२३४- निःस्वार्थसेवा—सर्वोत्कृष्ट उपासना (श्रीरामजीलाल गौतमजी पटवारी)	४९२
२१३- मानवसेवाके कतिपय दृष्टान्त (डॉ० श्रीश्याममनोहरजी व्यास)	४४१	२३५- सेवाभावसे भगवत्प्राप्ति (दासानुदास श्रीराघवदासजी)	४९४
		२३६- नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना	४९७

चित्र-सूची

(रंगीन चित्र)

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१- भगवत्सेवाके विविध रूप	आवरण-पृष्ठ	६- [क] माता-पिताके सच्चे सेवक—श्रवणकुमार	७
२- सेवामूर्ति श्रीभरतजीद्वारा चरणपादुकाकी सेवा	३	[ख] राजर्षि दिलीपकी गोसेवा	७
३- विश्वके रक्षणके लिये भगवान् शिवका विषपान	४	७- सच्ची सेवाका स्वरूप—सर्वत्र भगवद्दर्शन	८
४- श्रीकृष्ण एवं बलरामद्वारा माता-पिताकी सेवा	५	८- [क] अतिथि-सेवासे राजर्षि रन्तिदेवको	
५- [क] भक्तिमती शबरीकी अतिथिसेवा	६	देवदर्शन	९
[ख] मनकोजी बोधलाद्वारा अतिथिरूपमें आये		[ख] रोगीसेवा—भगवत्सेवा	९
श्रीलक्ष्मीनारायणकी सेवा	६	९- सेवाके आदर्श प्रतिमान श्रीहनुमान्जी	१०

(सादे चित्र)

१- गुरुसेवा	२५	३७- धर्मराजद्वारा सत्यवान्को जीवनदान देना	१९५
२- भगवत्सेवा	२७	३८- सुकन्याद्वारा बाँबीके छिद्रमें काँट डालना	१९७
३- जगत्की रक्षाके लिये भगवान् शिवका विषपान	३२	३९- सुकन्याका वृद्ध पति च्यवनकी सेवा करना	१९८
४- भगवान् शिवद्वारा गोस्तुति	३४	४०- अश्विनीकुमारोंसे पतिदर्शनकी प्रार्थना	१९९
५- ब्रह्माजीके शरीरसे मनु-शतरूपाका प्राकट्य	४४	४१- सुकन्याद्वारा पिता शर्यातिको पतिका परिचय देना	१९९
६- मनु-शतरूपाको सशक्तिक भगवान्के दर्शन	४४	४२- केवटवेषधारी भगवान् और सतीका वार्तालाप	२०३
७- महर्षि कर्दम एवं देवहूति	५१	४३- सती भोगवतीकी पतिसेवा	२०४
८- कर्दमकी संकल्पशक्तिसे दिव्य विमानका प्राकट्य	५१	४४- भामतीकी पतिसेवा	२०५
९- कर्दम एवं देवहूतिका संवाद	५२	४५- मालवीयजीकी जीवदया	२१३
१०- ब्राह्मण कौशिककी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे बगुलीका गिरना	८५	४६- दयासागर विद्यासागरद्वारा दुखी मजदूरकी सेवा	२१५
११- कौशिकद्वारा धर्मव्याधके माता-पिताकी भक्ति देखना ..	८६	४७- नागमहाशयका सेवा-भाव	२१६
१२- कुलशेखर आलवार	१११	४८- गाँधीजीकी कुष्ठसेवा	२२०
१३- मुनि सुतीक्ष्णपर भगवान्की कृपा	१३४	४९- एलिजाबेथकी सेवानिष्ठा	२२३
१४- निषादराज गुहकी श्रीराम-सेवा	१३६	५०- दिलीपपत्नी सुदक्षिणाकी गोसेवा	२४२
१५- भगवान्की सेवामें गुहका रात्रि-जागरण	१३७	५१- लोकमान्य तिलक	२६८
१६- जटायु और रावणका युद्ध	१३९	५२- माता कस्तूरबा	२७४
१७- जटायुका उद्धार	१३९	५३- भीष्मद्वारा हंसोंको इच्छामृत्युकी बात बताना	२८५
१८- माताद्वारा सालबेगको भगवत्सेवाका उपदेश	१४२	५४- अमर शहीद फतेहसिंह और जोरावरसिंह	२९४
१९- संत-सेवाका साक्षात् फल	१५०	५५- बलिदानी हकीकतराय	२९८
२०- पीपा-दम्पतीकी संतसेवाका प्रभाव	१५१	५६- तुषाग्निपर बैठे कुमारिल भट्ट	३०२
२१- मातृहृदय द्रौपदीकी उदारता	१६२	५७- संयमरायकी अद्भुत स्वामिभक्ति	३०२
२२- पितृभक्त सोमशर्मा	१६९	५८- स्वामिभक्तिकी प्रतिमूर्ति पन्ना धाय	३०५
२३- पितृभक्त खलासी-बालक	१७०	५९- बर्मोंके प्रहारसे नागासाकी और हिरोशिमाका विध्वंस ..	३०६
२४- माता-पिताके भक्त श्रवणकुमार	१७१	६०- गुरु परशुरामद्वारा कर्णकी भर्त्सना	३२९
२५- दशरथद्वारा श्रवणकुमारकी सेवाके फलको देखना	१७२	६१- ब्रह्माजीद्वारा देव, दानव तथा मानवको ' द ' का उपदेश	३३१
२६- राजा शान्तनु और निषादराजका संवाद	१७३	६२- पतिव्रता शाण्डिलीद्वारा सूर्योदयको रोक देना	३८३
२७- उपमन्युकी गुरुसेवा	१७५	६३- नागकन्या जरत्कारु और उसके पति महर्षि जरत्कारु ..	३९५
२८- शिवाजीद्वारा सिंहिनीका दूध प्राप्त करना	१७७	६४- भगवान्का खम्भेमें स्वयं बँधने आ जाना	४०५
२९- श्रीमुद्गलद्वारा दुर्वासाजीका आतिथ्य	१८०	६५- भगवान्द्वारा गोवर्धन-धारण	४१६
३०- व्याधद्वारा अतिथिसेवी कपोतदम्पतीकी सद्गति देखना	१८२	६६- कामदेवद्वारा शिवजीपर पुष्पबाण छोड़ना	४७८
३१- देवी श्रुतावतीकी अतिथि-सेवा	१८५	६७- नामदेवका कुत्तेमें नारायण-दर्शन	४७९
३२- सेवाभावी स्वामी श्रीटेऊँरामजी	१८८	६८- सन्त श्रीज्ञानेश्वरजी	४८०
३३- सावित्रीका नारदको सत्यवान्के विषयमें बताना	१९०	६९- सन्त श्रीएकनाथजी	४८०
३४- सावित्रीद्वारा स्वयं भी वन चलनेका अनुरोध करना	१९२	७०- सन्त श्रीतुकारामजी	४८२
३५- सावित्रीके समक्ष कालरूप धर्मराजका प्राकट्य	१९३	७१- समर्थ गुरु रामदास	४८२
३६- सावित्रीद्वारा धर्मराजसे वर माँगना	१९४	७२- स्वामी श्रीनितानन्दजी महाराज	४८३

सेवामय जीवन—एक व्यावहारिक दर्शन

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभागभवेत्॥

इस श्लोकका भाव यह है कि चराचर जगत्के सभी प्राणी सुखी हों, किसीको भी कष्ट न हो, सभी स्वस्थ हों, सभीका मंगल हो, सबका कल्याण हो और कोई भी दुःखका भागी न बने—ये विचार कितने सुन्दर हैं और शुभ हैं, परंतु सबको सुखी करना क्या हमारे वशकी बात है? वस्तुतः ये मनके सुन्दर भाव हैं? वास्तवमें यदि ये भाव हमारी अन्तरात्माके हैं तो हमें अपनी सामर्थ्य-शक्ति और योग्यताके अनुसार इन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये तत्पर होना पड़ेगा।

मानव-जीवन भगवत्कृपासे प्राप्त होता है। प्राणी ८४ लाख योनियोंमें भटकनेके बाद अन्तमें भगवदनुग्रहसे मनुष्य-जीवन प्राप्त करता है। मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति करना, अपना कल्याण करना, जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना—ये तीनों एक ही बात हैं।

इसे प्राप्त करनेके लिये परमात्म-प्रभुने बल, बुद्धि, विवेक और सामर्थ्य भी मानवको प्रदान किया है। अन्य किसी भी योनिमें यह सामर्थ्य नहीं है। अन्य योनियाँ तो केवल भोगयोनियाँ हैं, जहाँ केवल भोग भोगा जाता है। मानवमात्रको यह क्षमता प्राप्त है कि वह सेवा, तप, दान, परोपकार, आराधना आदि सब पुण्यप्रद कार्योंको सम्पन्नकर अपनी साधनासे भगवत्कृपा प्राप्तकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करे।

अपने ऋषि-महर्षि, सन्त एवं अपने शास्त्रोंने एक महान् उद्देश्य प्रस्तुत किया—‘सर्वे भवन्तु सुखिनः...’ सभी सुखी होंगे तो हम भी सुखी हो जायँगे, केवल अपने सुखके लिये प्रयत्न करना एक प्रकारका स्वार्थ है और सबके सुखके लिये प्रयास करना परमार्थ है। सबको सुखी करना अपने हाथकी बात नहीं है, परंतु फिर भी यह पवित्र भाव अपने जीवनका उद्देश्य बन जाय तो व्यक्ति जो कुछ भी करेगा, वह सब उसकी निष्काम सेवा

होगी—निष्काम उपासना होगी।

इस प्रकार कल्याणकामी मनुष्यकी पूरी जीवनचर्या सेवामय हो जायगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसी आशयसे ‘सर्वभूतहिते रताः’ कहकर यह दर्शाया कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत है अर्थात् सबका हित करता है, वह मुझे प्राप्त करता है, परंतु यह प्राप्ति उसीको होती है, जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं और बुद्धि सबके प्रति समताका भाव रखती है—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरको वह योगी परमश्रेष्ठ मान्य है, जो सबके हितकी भावनासे सबके प्रति सुखप्रद व्यवहार करता है, किसीके अहितकी भावनासे किसीको दुःख नहीं देता। ‘आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्’—इसका आशय है कि जो आचरण स्वयंको प्रतिकूल लगता हो, वह दूसरेके प्रति कभी न करे।

पद्मपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराणका एक वचन है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रार्थयताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(पद्मपुराण सृष्टि० १९।३५५, विष्णुधर्मो० ३।२५३।४४)

‘धर्मका सार सुने और सुनकर इसे धारण करे—दूसरोंके द्वारा किये जिस बरतावको अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिये।’

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि बरताव अपने लिये अप्रिय हैं; वे दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकते।

इसी प्रकार मन, वाणी और कर्मके द्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना अर्थात् मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयमसे समन्वित रहना तथा दया और दान करनेमें प्रवृत्त रहना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥

(महा० शान्ति० १६२।२१)

इस प्रकारकी जीवनचर्या जिस व्यक्तिकी होगी, वह व्यक्ति 'सर्वभूतहिते रताः'—सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवामें संलग्न माना जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति चाहता है, परंतु दूसरोंको दुःख देकर यह कदाचित् सम्भव नहीं है, दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा, सुख दोगे तो सुख निश्चितरूपसे मिलेगा, एक उदाहरणसे यह बात और स्पष्ट हो सकेगी। संसारके समस्त प्राणी ईश्वरके अंश हैं अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं, इसलिये सबकी सेवा भगवान्की सेवा है। एक दृष्टान्त है बिम्ब और प्रतिबिम्बका। मनुष्य बिम्ब है और दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब दिखता है, यहाँ मनुष्यरूपी बिम्ब परमात्माका प्रतीक है और दर्पणमें दिखनेवाला प्रतिबिम्ब जीवका प्रतीक है, प्रतिबिम्बका शृंगार करना है तो बिम्बका शृंगार करना पड़ेगा। बिम्बको हम जो वस्तु प्रदान करेंगे, वह वस्तु दर्पणमें प्रतिबिम्बको स्वतः प्राप्त हो जायगी। बिम्बको लाल चादर ओढ़ायेंगे तो प्रतिबिम्बमें स्वतः लाल चादर आ जायगी। इस बातसे यह सिद्ध होता है कि परमात्म-प्रभुको जो कुछ अर्पण करेंगे, वह अर्पण करनेवाले जीवको स्वतः प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार ईश्वर-स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करनेका फल (लाभ) सेवा करनेवाले जीवको निश्चित मिलता है। यद्यपि उसे फलकी कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये, तभी निष्काम सेवा होगी।

वस्तुतः सेवाकी शृंखला जन्मके पूर्वसे प्रारम्भ हो जाती है। जब जीव गर्भमें रहता है तो माताको उसकी रक्षाके लिये सावधानी रखनी पड़ती है, भोजन आदिमें कई प्रकारके परहेज रखने पड़ते हैं। सुबुद्ध माताएँ गर्भस्थ शिशुको सुन्दर संस्कार प्रदान करनेके लिये सत्साहित्य एवं धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय एवं श्रवण भी करती हैं; यह सब एक प्रकारसे गर्भस्थ शिशुकी सेवा

ही तो है। जन्मनेके बाद शिशुके पालन-पोषणमें माताको कितना श्रम करना पड़ता है, यह सर्वविदित है। यह माताके द्वारा स्वाभाविक सेवा है, जिसकी प्रेरणा माताको स्वतः प्रकृतिसे प्राप्त होती है। शिशुके कुछ बड़े होनेपर माता-पिताको उसकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था करनी पड़ती है। गुरुजनोंके द्वारा उसे शिक्षा एवं विद्या प्रदान की जाती है, जिससे वह पढ़-लिखकर योग्य बनता है—ये सब स्वाभाविक सेवाएँ हैं, जो अपने शास्त्रोंद्वारा माता-पिता एवं गुरुजनोंके लिये कर्तव्य-रूपमें भी निर्धारित हैं।

व्यक्तिका विद्याध्ययन, शिक्षा-दीक्षा जब पूरी हो जाती है और वह युवावस्थाको प्राप्त कर लेता है तो उसके भी कर्तव्य सेवारूपमें निर्धारित हो जाते हैं। अपने कर्तव्यका निर्वाह करना और उनका पालन करना यह सेवाका प्रथम सोपान है। माता-पिताका पुत्रके प्रति, पुत्रका माता-पिताके प्रति, गुरुका शिष्यके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति, स्वामीका सेवकके प्रति एवं सेवकका स्वामीके प्रति जो कर्तव्य है, उसका पालन करना—यह प्रथम और अनिवार्य सेवा है।

सेवा सृष्टि-संचालनका वह तत्त्व है, जिसके माध्यमसे ही परमात्माकी सृष्टि सुव्यवस्थितरूपसे संचालित हो रही है। छोटोंका अपने बड़ोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसकी जननी श्रद्धा है और बड़ोंका छोटोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसका जनक वात्सल्यभाव है। बिना वात्सल्यके कोई प्राणी अपने बच्चोंका लालन-पालन नहीं कर सकता, वात्सल्य और श्रद्धा जब अपनी परिमित सीमाका अतिक्रमणकर विश्वके प्रत्येक प्राणीके उपकारके लिये अभिव्यक्त होते हैं तो ये वात्सल्य और श्रद्धा ही लोकमें 'सेवा' शब्दद्वारा कहे जाते हैं।

मनुस्मृतिमें आचार्य मनुने कहा है कि घरमें वृद्ध माता-पिता, गुरुजन एवं अपनेसे बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेसे चार बातोंकी प्राप्ति होती है। ये चार बातें हैं—आयु, विद्या, यश और बल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति २।१२१)

इन चार वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सारा संसार लालायित है, पर इन्हें प्राप्त करनेकी विधि कितनी सरल और मर्यादित है।

माता-पिता, आचार्य, अतिथिकी सेवाका निर्देश शास्त्रोंने इस रूपमें स्पष्टरूपसे किया है—‘मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।’ अर्थात् माताकी सेवा करे, पिताकी सेवा करे,



आचार्य-गुरुकी सेवा करे, आगत अतिथिकी सेवा करे। कहते हैं माताकी सेवासे व्यक्तिकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। पिताकी सेवासे सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं और उनके प्रसन्न होनेसे अलभ्य कुछ नहीं रह जाता। अतिथिकी सेवा साक्षात् श्रीमन्नारायणकी सेवा है।

सेवासे यद्यपि भौतिक कामनाओंकी भी पूर्ति होती है, परंतु वास्तविक कल्याण भगवत्प्राप्ति और जीवन्मुक्ति तो निष्कामसेवासे ही होती है। वास्तवमें उस परमतत्त्वतक पहुँचनेके लिये सेवा एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। सेवा वह राजमार्ग है, जिसपर चलकर विद्वान् मनीषीसे लेकर सामान्यजनतक सभी अपने-अपने जीवन-लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं। इस पथपर चलनेके लिये सभीको अधिकार

है। किसीके लिये कहीं कोई निषेध नहीं, यहाँतक कि परमात्म-प्रभुद्वारा रचित यह स्थावर सृष्टि भी सेवाका उपदेश देती है, सेवाकी प्रेरणा देती है। भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अपने प्रकाश एवं ऊष्मा-दानसे समस्त भुवनोंकी अहर्निश सेवा करते रहते हैं, चन्द्रदेव अपनी शीतल एवं स्वच्छ चाँदनी बिखेरकर सबको आह्लादित करते रहते हैं, नदियाँ अपने शीतल एवं मधुर जलसे सबको आप्लावित करती हैं, वृक्ष-वनस्पतियाँ अपने मधुर फलों तथा छायासे सबको सुख पहुँचाते हैं, पृथ्वी अन्न तथा ओषधियोंसे सबका भरण-पोषण करती है, वायु सबको गति एवं जीवन प्रदान करती है, मेघ बिना किसी भेदभावके सर्वत्र वृष्टि करते हैं, यहाँतक कि पशु-योनिमें गौमाताद्वारा भी अद्भुत सेवा प्राप्त होती है—दूध, दही, गोमूत्र, गोमय तथा अपने शरीरके अवयवोंसे वे मानवमात्रकी सेवा करती हैं, जबकि मनुष्यको एतद् अपेक्षा अधिक बुद्धि, सामर्थ्य और विवेक प्राप्त है। उसे अनेक प्रकारसे सेवाकर अपने जीवनको सफल बनानेकी योग्यता प्राप्त है।

सामान्यतः सेवाके चार साधन प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त हैं—तन-मन-धन और वाणी। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना सेवाका साधन है।

१. तनकी सेवा—स्वयं अपने शरीरसे दूसरोंकी सेवा करनेका विशेष महत्त्व है। शरीरद्वारा अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा—उनके चरण दबाकर, उनकी थकान मिटाकर उन्हें प्रसन्न करना, रुग्णावस्थामें मल-मूत्रादितककी सेवा करना। किसी भी रुग्ण एवं विशेष अस्वस्थ व्यक्तिको अपनी शारीरिक सेवा प्रदानकर सुख पहुँचानेका प्रयास करना, प्यासेको पानी, भूखेको रोटी देना, रक्तदान, अपंग-निर्धन एवं विधवाओंकी मदद करना, निरक्षरोंको पढ़ाना, सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार करना, मरणासन्न मनुष्यको गीता-रामायण आदिका पाठ या भगवन्नाम सुनाना इत्यादि तनकी सेवाके अन्तर्गत हैं।

गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है कि जो पुरुष

अन्तकालमें मुझको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे स्वरूपको साक्षात् प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८।५)

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे यदि एक मनुष्यका कल्याण भी किसीके द्वारा हो जाता है तो उसका जन्म सफल मानना चाहिये। यह एक प्रकारकी परमसेवा है।

२. धनकी सेवा—धनकी सेवाद्वारा निःस्वार्थ भावसे कुँआ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय एवं गोशाला आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार कराना और छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना तथा मार्ग आदि बनवाना—ये सभी लोकोपकारी सेवा एवं जनहितके कार्य करना—बनवाना पूर्तधर्म कहलाता है।

धनसेवाके अन्तर्गत सेवार्थमें दान एवं दयाका भी विशेष महत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(गीता १८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान और तप—इन तीन कर्मोंको कभी किसी भी अवस्थामें त्यागना नहीं चाहिये; क्योंकि ये तीनों मनीषियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

सेवारूप दानके कई रूप हैं। इन्हें श्रद्धापूर्वक अपनाकर व्यक्ति आत्मकल्याण कर सकता है—

अन्नदान—भूखे लोगोंको भोजन कराना, अन्न-क्षेत्रकी स्थापना करना इत्यादि।

जलदान—प्यासोंको जल पिलाना, कूप, वापी, तड़ाग बनवाना, प्याऊ लगवाना आदि।

भूमिदान—गौओंके लिये गोचर—भूमि छोड़ना तथा विद्यालय एवं अस्पतालके लिये भूमिका दान करना।

गोदान—किसी भी पुण्य कार्यकी सफलताके लिये तथा पापादिकी निवृत्तिके लिये गोदान करना तथा गायोंके भरण-पोषणहेतु चारे आदिकी व्यवस्था करना।

कणदान—कबूतर आदि पक्षियोंको चुगनेके लिये अन्नकण विकीर्ण करना, मछलियोंको आटेकी गोलियाँ देना आदि।

पंचबलि एवं बलिवैश्वदेव—अपने शास्त्रोंमें बलिवैश्वदेव एवं पंचबलिका विधान है, जिसे प्रतिदिन करना चाहिये। इसके द्वारा भावनात्मकरूपसे त्रिलोकके सम्पूर्ण देवों, गन्धर्वों तथा प्राणियोंकी तृप्ति हो जाती है। पंचबलिमें गोग्रास, श्वान (कुत्ता)—का ग्रास, काक (कौवा)—का ग्रास, कीट, पतंग, पिपीलिका (चींटी)—के ग्रास तथा अतिथिका भाग निकालनेकी विधि है। इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत्के प्राणियोंको संतृप्त करके भोजन करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३।१३)

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं। अतः बलिवैश्वदेव तथा पंचबलि परिवारके किसी एक व्यक्तिको प्रतिदिन करना चाहिये।

विद्यादान—बालकोंको सुशिक्षित श्रेष्ठ नागरिक बनानेके लिये विद्यालय, पुस्तकालय आदि स्थापित करना। भारतीय संस्कृतिके उन्नयनके लिये वेदविद्यालय तथा संस्कृतविद्यालय स्थापित करना। निर्धन छात्रोंकी आर्थिक सहायता करना तथा छात्रवृत्ति एवं पुस्तकालय आदिकी व्यवस्था करना। 'सर्वेषामेवदानानां विद्यादानं विशिष्यते।' सम्पूर्ण दानोंमें विद्यादानकी विशेषता है।

दया—किसी भी निर्धन एवं रुग्ण और अपंग अथवा अभावग्रस्त व्यक्तिको शारीरिक एवं आर्थिक सेवा प्रदानकर सुख पहुँचानेका प्रयास करना। रोगी



प्रकाश डाला गया है, यथा—जप, तप, व्रत, पूजापाठ, संयम, नियम, सत्संग तथा सुमिरन इत्यादि। निःसन्देह इन सब साधनोंका सम्पादन अनिवार्य रूपसे करना चाहिये, जिससे अन्तःकरणमें एक विशेष प्रकारकी सात्त्विकता, स्थिरता, प्रसन्नता एवं सद्भावनाका उदय होता है। ईश्वरप्राप्तिके इन साधनोंमें सेवाभाव सबसे सरल, सहज, सरस तथा श्रेष्ठ साधन है। सेवासे स्वयंका उद्धार होता है, परमशान्ति और आत्मतृप्तिकी अनुभूति होती है, परंतु इसके साथ ही साथ समस्त भूतप्राणियोंका हित, उत्थान, विकास एवं उद्धार भी होता है। वह तरनतारण बनकर स्वयं तो तरता है, सबका तारक भी बन जाता है—

‘स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।’

स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदिसे भरा हुआ यह संसार भगवान्का ही स्वरूप है। स्वयं भगवान् ही इस संसारके रूपमें प्रकट हैं—ऐसा मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करना, शरीर एवं इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्की सेवा करना है। यह भगवान्की बहुत उच्च कोटिकी सेवा है। यह सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेवाला महात्मा पुरुष बहुत दुर्लभ है—

‘वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥’

(गीता ७।१९)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज भी इस प्रकारकी सेवाको अनन्य भक्तका प्रमुख लक्षण मानते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

भगवान् राम कहते हैं—हे हनुमान्! अनन्य भक्त वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी भी नहीं टलती (अविचल रहती है) कि मैं तो सेवक हूँ और यह चराचर (जड़-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्का साक्षात् रूप है।

सेवाकी सफलताका व्यापक रूप है—अपनी ओरसे किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना। सबकी सेवामें युक्त होकर सुख पहुँचानेकी निष्कामभावपूर्ण

चेष्टा ही भगवान्का भजन है। माला-जप भी करें, भजन भी करें, परंतु संसारमें, व्यवहारमें तथा व्यापारमें दूसरोंको दुःख पहुँचायें, धोखाधड़ी करें, बेईमानी करें, राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा तथा परनिन्दा-परदोषदर्शनमें अमूल्य समय गँवायें तो यह भजन मात्र पाखण्ड बनकर रह जायगा। सारांशमें सबका दुःख बँटा या मिटाकर सुख पहुँचानेकी भरपूर चेष्टा करनेसे मानव सदैव शान्त-प्रशान्त रहता है, वह शीघ्र ही ईश्वर-दर्शनका सुयोग्य अधिकारी बन जाता है।

सेवकके लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

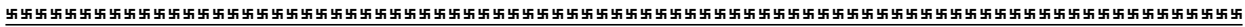
(१) राग-द्वेषसे रहित होना चाहिये, (२) स्वार्थरहित होना चाहिये, (३) अहंकारसे रहित होना चाहिये, (४) आसक्तिसे रहित होना चाहिये।

काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष—इनसे रहित होकर नम्रतापूर्वक निष्काम भावसे जो सेवामें संलग्न होगा, उसीकी सेवा पूर्णरूपसे सार्थक होगी।

सेवाके प्रसंगमें एक रहस्यमय तथ्य यह है कि सेवा छोटी-बड़ी नहीं होती। जिस सेवाकार्यमें आसक्ति नहीं, अभिमान नहीं, कोई अपना स्वार्थ नहीं, वह छोटी सेवा भी महान् सेवा बन जाती है।

सेवकके लिये आवश्यक है कि वह मर्यादामें रहे। सेवक यदि मर्यादाका पालन नहीं करता तो उससे सेवाधर्म भंग हो सकता है। वेदमें सात मर्यादाएँ वर्णित हैं—१. ब्रह्महत्या, २. सुगपान, ३. चौर्यकर्म, ४. गुरुपत्नीगमन, ५. उपर्युक्त किन्हीं भी पापोंसे लिप्त व्यक्तिकी संगति एवं उससे सम्पर्क, ६. पुनः-पुनः पापाचरण करना, ७. पाप करके उसे छिपाना (न कहना)। ये बातें सेवकको कदापि नहीं करनी चाहिये। सेवकके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण मर्यादा यह है कि जो हमारा सेव्य है, उसके प्रति निष्ठा-भाव, निष्कामता और निरन्तरता बनी रहे।

भगवत्सेवकका लौकिक जीवन तथा आचरण अत्यन्त पवित्र तथा आदर्श होना चाहिये। सदाचारहीन प्राणी कभी भगवान्का सेवक नहीं हो सकता। सभी वर्ण तथा आश्रमके मनुष्य भगवत्सेवाके समान रूपसे अधिकारी



हैं। देवता, असुर, धनवान्, निर्धन, ज्ञानी अथवा मूर्ख कोई भी क्यों न हो? भगवत्सेवाद्वारा नित्य कल्याणको प्राप्त करता है। वानररूप श्रीहनुमान्जी, पक्षीरूप श्रीगरुड़जी सर्परूपी श्रीशेषजी, असुरकुलोत्पन्न श्रीप्रह्लाद, बलि, विभीषण आदि, स्त्रीकुलोत्पन्न शबरी, कुन्ती, दासीपुत्र विदुरजी आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

किसी छोटे या बड़े स्वार्थ-सिद्धिके उद्देश्यसे अथवा किसीसे कुछ पानेकी आकांक्षासे किसीकी सेवा करनेका कोई महत्त्व नहीं है। जैसे—अधिकारियोंकी सेवा, मन्त्रियोंकी सेवा। इसी लक्ष्यसे संस्थाओं अथवा राजनीतिक पार्टियोंको दान आदि देना। चुनाव आदिमें सहायता करना, यह वास्तवमें न सेवा है न दान, यह एक प्रकारसे अपने स्वार्थ-साधनका एक तरीका है। इसके अतिरिक्त दूसरोंको सतानेवालोंकी सहायता करना सेवा नहीं है, वह तो परपीड़न है। व्यभिचारी व्यभिचारकी इच्छा करता है, उसकी इच्छाको पूर्ण करना सेवा नहीं है। चोरी करनेमें चोरकी सहायता करना सेवा नहीं है। पापीके पापकर्ममें सहायता करना सेवा नहीं है। निर्दोषकी सेवा ही सेवा है, परंतु यदि पापी भी बीमार हो तो उसे रोगमुक्त करनेका प्रयत्न तो यथासाध्य अवश्य करना चाहिये। सेवक जिसकी सेवा करता है, उसके आगे-पीछेके बरतावको नहीं देखता। इतना ही देखता है कि वह जो सेवा कर रहा है, वह सीधे उसके वर्तमान पापमें तो सहायता नहीं कर रही है।

अपनेको उपकार करनेवाला बताकर सेवाका अभिमान करके सेव्यको (जिसकी सेवा की जा रही है, उसको) अपनेसे नीचा मानना, उसपर एहसान करना, उसके द्वारा कृतज्ञता या प्रत्युपकार प्राप्त करनेका स्वयंको अधिकारी समझना और न मिलनेपर उसे कृतघ्न मानना, यह भी शुद्ध सेवा नहीं है, एक प्रकारका व्यापार ही है। एक दृष्टान्तसे यह बात और स्पष्ट होगी—

मान लें किसी असहाय, रुग्ण व्यक्तिकी सेवा करनेकी प्रेरणा हुई और हमने उसके लिये दयावश ओषधि और दूध आदिकी व्यवस्था कर दी। उस व्यक्तिको यह मालूम नहीं है कि यह सेवा किसकी तरफसे हो रही है। हमारे मनमें यह बात आती है कि

जिसकी सेवा की जा रही है, उसे यह मालूम होना चाहिये कि यह सेवा हमारी तरफसे है। इसके पीछे उद्देश्य यह रहता है कि वह सेव्य व्यक्ति हमारे प्रति कृतज्ञ रहे और उसकी सहानुभूति प्राप्त हो—यह भी एक प्रकारका सूक्ष्म स्वार्थ ही है। इससे भी यथासम्भव बचनेका प्रयास करना उत्तम है। 'मैं सेवक हूँ'—'मैं सेवा करता हूँ'—अभिमानपूर्वक ऐसी भावनासे सेवाका गौरव नष्ट हो जाता है। सेवककी दृष्टि तो भगवान्पर रहनी चाहिये। उनकी प्रेरणासे और उनकी शक्तिसे यह सेवा हो रही है—यह भावना होनी चाहिये।

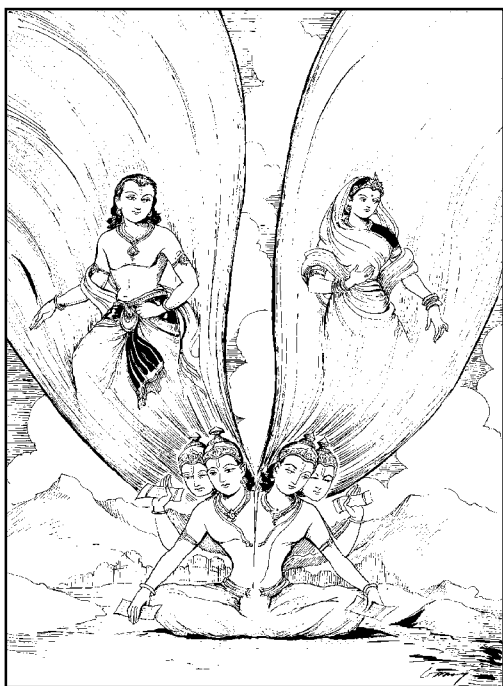
श्रीरामचरितमानसमें इसके स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। मानसमें सेवाद्वयके तीन वरेण्य पात्र हैं—श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्जी। भरतजीका सेवाद्वय इतना निष्काम, निष्कलुष और छल-कपटरहित है कि कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी तथा देवगुरु बृहस्पति भी उनके इस स्वभावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। भरत-चरितका प्रसंग मानसके सेवाद्वयका हृदय है। श्रीभरतजी चरणपादुकाकी सेवा करते हैं तो श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामकी चरणरजकी सेवाको ही जीवनका परम ध्येय मानते हैं। मानसमें सेवाद्वयका सम्पूर्ण विनियोग श्रीहनुमान्जीके चरितमें हुआ है। श्रीहनुमान्जी ऐसे विलक्षण सेवक हैं, जिन्होंने भगवान्के साथ-साथ भक्तकी सेवा की। उन्होंने यथा अवसर वानरों, सुग्रीवजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजीको भी संकटोंसे उबारा। यह उनके सेवाद्वयकी पराकाष्ठा है। इसी प्रकार मानसमें माता जानकीका सेवा-धर्म सबको अभिभूत कर देता है। वस्तुतः श्रीरामचरितमानसमें अनेक प्रसंगोंमें सेवाद्वयका निरूपण किया गया है, जो अत्यन्त व्यावहारिक, प्रासंगिक और प्रेरक है।

भगवान्की सेवाका सर्वप्रथम साधन है भगवान्की आज्ञाका पालन करना। भगवान्का सच्चा सेवक वही है, जो उनकी आज्ञा मानता है और वही भगवान्का परमप्रिय भी है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

राजर्षि मनु और उनका सेवा-विधान

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने अपने शरीरसे ही मनु और हितैषी हैं।



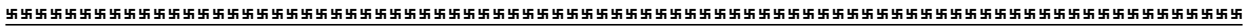
शतरूपाको प्रादुर्भूत किया। स्वयम्भू ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण मनु स्वायम्भुव मनु कहलाते हैं। ब्रह्माजीने सृष्टिके विस्तारके लिये मनुको सृष्टि करनेकी आज्ञा दी। उनके आज्ञानुसार मनु तथा शतरूपाद्वारा मैथुनी सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ। ये ही आदि मनु प्रजापालनके लिये ब्रह्माजीकी आज्ञासे आदि राजा हुए। राजर्षि मनु और महारानी शतरूपाका चरित्र अत्यन्त पावन, उज्वल एवं सदाचारमय रहा है। यथासमय स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। फिर आगे इन्हींसे सृष्टिका विस्तार होता गया। महाभागवत ध्रुव इन्हीं मनुमहाराजकी परम्परामें सुनीति और उत्तानपादके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए।

राजर्षि मनु मानव-जातिके आदि पिता हैं। ऐश्वर्य, अनुशासन, तप, त्याग, सदाचार, धर्माचरण, भूतदया और सर्वभूत-हितैषिता तथा भगवत्सेवा—ये मनुदम्पतीके जीवनके महान् आदर्श रहे हैं। महारानी शतरूपा तो शील, विनय एवं पातिव्रतकी आदर्श हैं। पातिव्रतधर्म क्या है? यह इनके जीवनका आचरण ही है। पुण्यकीर्ति राजर्षि मनु और देवी शतरूपा भगवदीय अंशसे सम्पन्न हैं और जीवमात्रके परम

सुदीर्घकालतक धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए अन्तमें इनके मनमें यह बात आयी कि घरमें रहकर राज्यका भोग करते हुए वृद्धावस्था आ गयी, किंतु विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। भगवान्के भजनके बिना जीवनका यह अमूल्य समय यों ही बीत गया—यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अन्ततः पुत्रोंको राज्यका भार देकर ये महारानी शतरूपाके साथ तपोभूमि नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर आ गये और मुनिवृत्ति धारणकर भगवान्के द्वादशाक्षर मन्त्र— 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का प्रेमसहित जप करने लगे। उनके मनमें बस यही एक अभिलाषा रह गयी थी कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्के दर्शनकर जीवनको सफल किया जाय। कठोर तप करते-करते हजारों वर्ष बीत गये। कई बार ब्रह्मा आदि देवता आये और उन्होंने बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, किंतु ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीर सूखकर काँटा हो गया, हड्डीका ढाँचामात्र रह गया— 'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा' परंतु मनमें जरा भी पीडा नहीं हुई। मन तो भगवान्के चरणोंमें लगा था और आँखें भगवद्दर्शनको उत्कण्ठित थीं। इस अनन्य प्रेमको देखकर



भगवान् नीलमणिने अपनी शक्तिके साथ मनोरम रूपमें इन दम्पतीको दर्शन दिया।



शोभाके समुद्र अपने परमाराध्यके दर्शनकर दोनोंके नेत्र अपलक हो गये। शरीरकी सुधि भूल गयी, चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्ने बड़े प्रेमसे उठाया और वर माँगनेको कहा। बड़े संकोचसे मनुजी बोल पड़े—हे कृपानिधान! मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ—‘चाहउँ तुम्हहि समान सुत।’ भगवान् हँसकर बोले—‘आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥’

बस मनुजीके लिये तो यही पर्याप्त था। समय बीता और ये ही मनु-शतरूपा आगे चलकर दशरथ-कौसल्या बने और अवधमें भगवान्का श्रीरामरूपमें तथा मिथिलामें आदिशक्तिका श्रीजानकीजीके रूपमें अवतरण हुआ।

ऐसे उदारकीर्ति मनुजीको ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्रजाका राजा बनाया। हम सभी मनुकी सन्तानें हैं। मनुसे ही मानव-मनुष्य—ये शब्द बने हैं। महाराज मनुने अपने प्रजाका धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक पालन करनेके लिये जो विधान बनाया और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें जो नियम-कानून बनाये, वे ही नियम-निर्देश मनुके नामसे मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्रके नामसे विख्यात हुए। मनुस्मृति सृष्टिका आदि सनातन संविधान है। वेदार्थका प्रतिपादन करनेके कारण सभी विधानों (धर्मशास्त्रों) में मनुस्मृतिका प्राधान्य है—‘वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।’ मनुजीको सर्वज्ञानमय, सर्ववेदमय कहा गया है—‘सर्वज्ञानमयो हि सः।’ (मनु० २।७) वेदने बताया है कि मनुजीद्वारा जो भी कहा गया है, वह सबके लिये सदा प्रामाण्यस्वरूप है, औषधके समान हितकर तथा जीवनरक्षक है, इसीलिये मनुजीके कथनको परम भेषज, परम औषध कहा गया है—‘यत्किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः।’ (ताण्ड्यब्रा० २३।१६।७) ‘यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्’ (कृष्णयजु० तैत्ति० सं० २।२।१०।२)। इस प्रकार मनुजीके वचनोंका पालन करनेसे परम कल्याणकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

मानवजीवनके श्रेयःसम्पादनका कोई भी ऐसा

विषय नहीं है, जो मनुजीके विधानशास्त्र (मनुस्मृति) में नहीं आया है। तथापि प्रधानरूपसे वर्ण और आश्रम धर्मोका निरूपण, राजधर्मनिरूपण तथा मोक्षधर्मका प्राधान्य इसमें निरूपित है। मनुजीने सदाचार तथा धर्माचरणका प्राधान्य बताया है और व्यक्तिका अन्यके प्रति क्य कर्तव्य है, इसका विस्तारसे प्रतिपादन किया है।

सर्वत्र समदर्शन

मनुजीने स्वार्थका अपनोदनकर परहित-सम्पादनको सबसे बड़ा धर्म बताया है और कहा है—जीवमात्रमें सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनेवाला, परमात्मदर्शन करनेवाला तथा सबमें आत्मदर्शनकर तदनुकूल सबकी निष्काम भावसे सेवा करनेवाला समदर्शी ब्राह्मीस्थितिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है। वह स्वाराज्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनुस्मृति १२।११, १२५)

अधर्ममें कभी मन न लगाये

राजर्षि मनु अपनी सन्तानोंको सावधान करते हुए कहते हैं कि अपने जीवनको भूतदयामय तथा सेवामय बनाना चाहिये। निष्काम सेवा महान् धर्म है। दूसरेको कष्ट देना महान् अधर्म है, अतः ऐसे अधर्ममें अपना मन नहीं लगाना चाहिये। सदा मन, वाणी, कर्मसे धर्माचरणमें ही संलग्न रहना चाहिये—‘धर्मे दध्यात् सदा मनः’ (मनुस्मृति १२।२३), ‘नाधर्मे कुरुते मनः’ (मनु० १२।११८)। मनुष्यको यह समझना चाहिये कि जीवसेवा आदि शुभकर्मोंका शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल प्राप्त होता है—यह विचारकर मन-वाणी तथा कर्मसे सदा ही शुभ कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये—‘मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥’ (मनुस्मृति ११।२३१)

अधर्माचरणका भोक्ता कौन ?

महाराज मनु यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि यदि व्यक्ति जीवनमें निन्दित कार्योंको करता है, माता, पिता, गुरुकी सेवा नहीं करता, हिंसा करता है, जीवोंपर दया-भाव नहीं रखता, जो उसके वर्ण एवं आश्रमके लिये कर्म नियत किये गये हैं, उनका अपलापकर निषिद्धाचरण करता है तो उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, यदि उसे उसका फल नहीं मिलता तो उसके पुत्रको मिलता है। यदि पुत्रको भी नहीं मिलता तो पौत्रादिको अवश्य प्राप्त होता है, निन्दित कर्मोंका फल कभी निष्फल नहीं होता—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्युत्रेषु नप्तृषु।

न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥

(मनुस्मृति ४।१७३)

किसीको तनिक भी कष्ट न दे

मनुजी बताते हैं लोक-जीवनमें भले ही स्वयंको कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, कितनी ही हानि क्यों न सहनी पड़े, चाहे प्राणोंका उत्सर्गतक करना पड़े, पर सर्वदा दूसरेके हितचिन्तनमें सदा तत्पर रहना चाहिये। दूसरेका कैसे भला हो, कैसे मुझे सेवाका अवसर प्राप्त हो और कैसे मैं उसका सदुपयोग करूँ, इन सब बातोंपर विचार करते रहना चाहिये। दूसरेका अपकार करनेका किंचित् भी ख्याल मनमें नहीं रखना चाहिये, कर्मसे करनेकी बात तो सोचनी ही नहीं चाहिये। रही वाणीकी बात तो वाणीका तो सदा संयम रखना चाहिये। सदा प्रिय बोलना चाहिये, हितकर बात बोलनी चाहिये, जिस वचनसे कोई दुखित हो, उद्विग्न हो—ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये—

नारुंतुदः स्यादातोंऽपि न परद्रोहकर्मधीः।

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥

(मनुस्मृति २।१६१)

माता-पिता और गुरुकी सेवा—सर्वोपरि धर्म

महाराज मनु इस बातपर बहुत जोर देते हैं कि

जिसने अपने जीवनमें कर्तव्यबुद्धिसे माता-पिताकी सेवा नहीं की, उसके जन्मको ही धिक्कार है, क्योंकि माता-पिता गर्भधारण, प्रसव-वेदना, पालन, रक्षण, वर्धन तथा देखभालके द्वारा जिस कष्टको सहर्ष सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षों क्या, अनेक जन्मोंमें भी चुकाना सम्भव नहीं है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

(मनुस्मृति २।२२७)

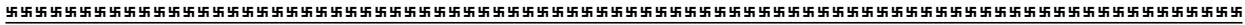
गुरु, पिता, माता और बड़ा भाई—ये लोग यदि कोई अपमान करें तो भी उनका अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुरु परमात्माकी मूर्ति है, पिता प्रजापतिकी मूर्ति है, माता पृथ्वीकी मूर्ति है और ज्येष्ठ सहोदर भाई अपनी ही मूर्ति है। यदि माता-पिता और गुरु सन्तुष्ट हो गये तो सभी तपस्याओंका फल प्राप्त हो जाता है। इन तीनोंकी सेवा ही सबसे बड़ा तप है—‘तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।’ (मनुस्मृति २।२२९) माता-पिता और गुरु—ये ही तीनों लोक, ये ही तीनों आश्रम, ये ही तीनों वेद और ये ही तीनों अग्नि हैं। इन तीनोंकी प्रमादरहित होकर सेवा करनेवाला तीनों लोकोंको जीत लेता है और इतना दीप्तिमान् बन जाता है कि सूर्य आदि देवताओंके समान स्वर्गमें आनन्दित होता है। मातृभक्तिसे भूलोक, पिताकी भक्तिसे अन्तरिक्षलोक और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। जबतक माता-पिता और गुरु जीते हैं, तबतक अन्य किसी धर्माचरणकी आवश्यकता नहीं है, अपितु उन्हींके प्रिय और हित-कार्यमें लगकर नित्य उनकी शुश्रूषा करता रहे। इन तीनोंकी सेवा ही परम धर्म है, अन्य धर्म तो उपधर्म हैं—

यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।

तेष्वेवं नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० २।२३५, २३७)



इन तीनोंमें भी मनुजी माताको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माताका गौरव अधिक है, अतः वह सर्वापेक्षा विशेष पूज्य, सेव्य एवं आदरणीय है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।

सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

(मनुस्मृति २।१४५)

सेवाका सहज साधन—अभिवादन

मनुजी बताते हैं कि अभिवादन सेवा एवं सदाचारका प्रथम सोपान है। अभिवादनसे सभी अनुकूल तथा सन्तुष्ट हो जाते हैं। अभिवादन करने अर्थात् प्रणाम करनेसे और सर्वदा श्रेष्ठजनोंकी सेवा करनेसे मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

(मनु० २।१२१)

अभिवादनकी विधिमें मनुजी बताते हैं कि अपने दाहिने हाथसे गुरु आदिके दाहिने चरणका और बायें हाथसे बायें चरणका स्पर्शकर दाहिने हाथको ऊपर तथा बायें हाथको उसके नीचे रखते हुए प्रणाम करना चाहिये—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥

(मनुस्मृति २।७२)

एक हाथसे कभी भी अभिवादन नहीं करना चाहिये ।

अतिथिदेवो भव

भारतीय सनातन संस्कृतिमें 'अतिथि' को देवस्वरूप माना गया है और उसका आदर-सत्कार देवबुद्धिसे करनेका परामर्श दिया गया है। देवता, पितर, समस्त भूत-प्राणियोंको अन्नादिसे संपृक्तकर उनकी सेवाका

निर्देश प्राप्त होता है, इसलिये गृहस्थके घरमें नित्य बलिवैश्वदेव करनेका विधान है। ऋषि, पितर (पूर्वज), देवता, भूत और अतिथि—ये लोग गृहस्थसे अपनी-सन्तुष्टिकी आशा रखते हैं, अतः ये कर्म नित्य करणीय है।* स्वाध्याय (वेदपाठ आदि)—से ऋषियोंकी, हवनपूजनसे देवताओंकी, पितृतर्पण आदिसे पितरोंकी, अन्नादिसे मनुष्यों (अतिथियों)—की और बलिकर्मसे समस्त भूत-प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।

पितृन् श्राद्धैश्च नृन्ननैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥

(मनुस्मृति ३।८१)

अतिथिका लक्षण करते हुए महाराज मनु बताते हैं कि जिसके आने एवं ठहरनेकी तिथि (समय) ज्ञात न हो, वह अतिथि कहलाता है—'अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥' (मनुस्मृति ३।१०२) मनुजी कहते हैं कि घरपर आये हुए अतिथिको आसन, पैर धोनेके लिये जल, शक्तिके अनुसार भोजनादि प्रदान करना चाहिये और सब प्रकारसे उसका आदर करते हुए उसकी सेवा करनी चाहिये। यदि घरमें अन्न आदि न रहे या अभाव हो तो ये चार वस्तुएँ तो हमेशा रहती ही हैं—(१) तृण (बैठने अथवा शयन करनेके लिये घास आदिका आसन), (२) भूमि (बैठनेके लिये स्थान), (३) जल (हाथ-पैर धोनेके लिये तथा पीनेके लिये) तथा (४) मधुर वचन। अतः अन्य साधनोंके अभावमें इन्हींके द्वारा अतिथिका सेवा-सत्कार करना चाहिये—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

(मनुस्मृति ३।१०१)

अतिथिसेवासे धन, आयु, यश तथा उत्तमलोककी प्राप्ति होती है—'धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥' (मनुस्मृति ३।१०६) मनुजी बताते हैं कि देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, अतिथियों, घरमें स्थित

देवताओं तथा पोष्यवर्ग (आश्रितजनों)-को तर्पण, श्राद्ध, है—
अन्नादिदान एवं भोजन कराकर तथा उन्हें सेवा-सत्कार,
मानदानसे सन्तुष्ट करनेके अनन्तर ही स्वयं भोजन करना
चाहिये—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥
देवानृषीन् मनुष्याँश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥

(मनुस्मृति ३।११६-११७)

केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला तथा बिना
किसीको खिलाये अकेला ही भोजन करनेवाला पापको
ही खाता है—‘अद्यं स केवलं भुङ्क्ते यः
पचत्यात्मकारणात्।’ (मनुस्मृति ३।११८)

मनुजी यह भी बताते हैं कि अतिथिको चाहिये कि
जिस घरमें शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल,
मूल-फल आदिसे स्वागत-सत्कार नहीं हो, वहाँ निवास
न करे—

आसनासनशय्याभिरद्धिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद् वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्घितोऽतिथिः ॥

(मनुस्मृति ४।२९)

पतिसेवा

मनुजीने विस्तारसे स्त्रीधर्मका निरूपण किया है
और उसके अस्वातन्त्र्यको प्रधानता दी है ‘न स्त्री
स्वातन्त्र्यमर्हति’ (मनु० १।३) तथा उसके मुख्य
कर्तव्यके रूपमें पतिसेवाका ही निरूपण किया है, मनुजी
कहते हैं कि पिता या पिताकी अनुमतिसे भाई उसका
विवाह जिसके साथ कर देते हैं, स्त्रीको यावज्जीवन
उसकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये तथा उसकी बातोंका
उल्लंघन नहीं करना चाहिये—

यस्यै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥

(मनुस्मृति ५।१५१)

पतिकी शुश्रूषामात्रसे वह देवलोकमें पूजित होती

‘पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।’

(मनुस्मृति ५।१५५)

मन, वचन तथा शरीरसे संयत रहती हुई जो स्त्री
पतिके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती है, सदा उसके
अनुकूल रहती है, वह पतिलोक प्राप्त करती है तथा उसे
सज्जन लोग पतिव्रता कहते हैं—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता ।

सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

(मनुस्मृति ५।१६५, ९।२९)

गोसेवा

सनातन विधानके प्रतिष्ठापक महाराज मनुको
समस्त जीवनिकायके प्रति अत्यन्त ही उदारबुद्धि थी।
गोधर्मकी तो उनमें पूर्ण प्रतिष्ठा थी। शास्त्रोंमें बताया
गया है कि गौ स्वभावतः अत्यन्त पवित्र, निर्मल और
परम दयालु है, वह व्यक्तिके मनोजात भावोंको जान
लेती है। मनुजी बताते हैं कि वह स्वयं पवित्र ही नहीं
है, अपितु दूसरोंको भी पवित्र बना देती है। सचेतन ही
नहीं, वह अचेतनको भी शुद्ध बना देती है। जिस दूषित
एवं अपवित्र भूमिमें गोमूत्र आदिका छिड़काव कर दिया
जाय तथा गोमाता एक दिन-रात्रि उस भूमिपर निवास
कर ले तो वह भूमि शुद्ध हो जाती है, भूमि-शुद्धि के
कई उपाय मनुजीने बताये हैं, उनमें गोनिवास अन्यतम
है—

सम्मार्जनापाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।

गवां च परिव्रासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥

(मनुस्मृति ५।१२४)

मनुजी गोदानकी महिमा बताते हुए कहते हैं कि
वृषभका दान करनेवाला अचल सम्पत्ति और गोदान
करनेवाला सूर्यलोकको प्राप्त करता है—‘अनडुहः श्रियं
पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥’ (मनुस्मृति ४।२३१)
मनुजीने वृषको भगवान् धर्मका स्वरूप बताया है—
‘वृषो हि भगवान् धर्मः’ (मनुस्मृति ८।१६)। वृष

शब्दका अर्थ है काम अर्थात् मनोभिलषित वस्तुकी वर्षा करनेवाला। इन गोमाताओं और वृषकी सेवासे महान् फल की प्राप्ति होती है।

गोचरभूमिका उत्सर्ग

जिस स्थानपर गौएँ स्वतन्त्रतापूर्वक निर्भय होकर विचरण करती हुई घास आदि चरती हैं, वह भूमि गोचरभूमि कहलाती है प्राचीनकालमें प्रत्येक ग्रामके समीप गोचरभूमि छोड़ी जाती थी, जिसपर किसीका वैयक्तिक अधिकार नहीं होता था। उस भूमिपर सभी गौएँ घास चरती थीं। महाराज मनुने इस सम्बन्धमें यह विधान बनाया है कि ग्रामके चारों तरफ सौ धनुष अर्थात् चार सौ हाथतक या तीन बार छोड़ी फेंकनेसे जितनी दूर जाय, उतनी दूरतक नगरके चारों ओर ग्रामसे तिगुनी भूमि गौओंके चरने-फिरनेके लिये छोड़नी चाहिये। उतनी दूरीतक कोई फसल आदि नहीं बोनी चाहिये—

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।

शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु॥

(मनुस्मृति ८।२३७)

इस गोचरभूमिके भीतर कोई व्यक्ति काँटेदार बाड़ आदि लगाकर खेती करे और उस फसलको गौएँ नष्ट कर दें तो राजाको चाहिये कि वह गोस्वामीको दण्डित न करे, क्योंकि गोचरभूमिमें किसीको फसल आदि बोनेका अधिकार नहीं है।

मनुजी एक विशेष बात बताते हुए कहते हैं कि दस दिनके भीतर ब्याई हुई गाय, वृषोत्सर्गमें छोड़ा गया चक्र, त्रिशूल आदिसे चिह्नित साँड़ और देवताओंके उद्देश्यसे छोड़ा गया पशु अपने रखवालेके साथ हो अथवा बिना रखवालेके हो और खेतको चर जाय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है—

अनिर्दशाहां गां सूतो वृषान् देवपशूस्तथा।

सपालान् वा विपालान् वा न दण्ड्यात् मनुब्रवीत्॥

(मनुस्मृति ८।२४२)

महाराज मनुद्वारा निर्दिष्ट गोसेवाके ये अत्यन्त

सूक्ष्म एवं विलक्षण सूत्र हैं। मनुजी बताते हैं कि गो, देवता, ब्राह्मण, पीपल आदि देववृक्षोंकी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये। सदा उनका आदर-मान करते हुए उनमें देवबुद्धि रखनी चाहिये, इसीलिये जहाँ कभी भी ये हों, इन्हें अपने दाहिने करके मार्गमें चलना चाहिये—

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।

प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥

(मनुस्मृति ४।३९)

समष्टिकी सेवा—पूर्तधर्मका निर्वहन

समस्त जीवनिकायकी सेवाके उद्देश्यसे परोपकारबुद्धि रखते हुए निष्काम भावसे किये गये पूर्तधर्मके कार्यों का महान् फल है। गर्मीमें जल पीनेके लिये प्याऊ लगवाना, तालाब, कुआँ आदिका निर्माण, औषधालय, अनाथालय, उद्यान, फल एवं छायादार वृक्षोंका रोपण आदि परमार्थके कार्य पूर्तकर्मोंके अन्तर्गत आते हैं, इनसे सबका भला होता है, अतः पूर्तधर्मके कार्योंको मोक्षदायक बताया गया है—‘मोक्षं पूर्तेन विन्दति’ (शंखस्मृति १)। राजर्षि मनु बताते हैं कि न्यायोपाजित द्रव्यसे श्रद्धाके साथ किये गये ये कार्य अक्षय फल देनेवाले होते हैं, अतः सेवाभाव को ध्यानमें रखते हुए इनका निर्माण अवश्य कराना चाहिये—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।

श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥

(मनुस्मृति ४।२२६)

इस प्रकार मनुजीने अपनी मनुस्मृतिमें सेवाके विविध आयामोंका निरूपण किया है और यह बताया है कि यथाविधि इस धर्मशास्त्रमें बताये गये नियमोंके अनुसार निःस्वार्थ सेवामय जीवनयापन करनेवाला व्यक्ति आदर्श मानव कहलाता है। अतः सेवाके इन आदर्शोंकी सीख विश्वके सभी जनोंको भारतसे ग्रहण करनी चाहिये—

एतद्देशप्रसूतस्य

सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २।२०)

सेवा-निष्ठा

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

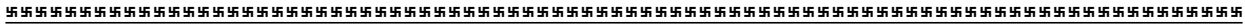
यात्रा वहींसे प्रारम्भ होती है, जहाँ मनुष्य स्थित रहता है। साधनाका उपक्रम भी वहींसे होता है, जहाँ साधककी स्थिति होती है। यदि अपनी स्थितिसे उच्चकोटिकी साधना की जाय तो उसमें स्थिरता आना कठिन होता है और साधक गिर पड़ता है। इसकी अपेक्षा यदि नीचेके स्तरसे साधनाका आरम्भ हो तो शीघ्र उन्नतिकी सम्भावना रहती है।

हम कहाँ स्थित हैं, इसका पता अपने-आपको चलना कठिन है। कारण यह है कि मनुष्य प्रायः अपने व्यवहारमें कुछ आसक्ति या दम्भ रखता है। इनका अभ्यास, संस्कार इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह स्वयंको वैसा ही समझने लगता है। इससे आत्म-निरीक्षण-परीक्षणकी योग्यता क्षीण हो जाती है। जिस सूक्ष्मदृष्टिसे वह दूसरोंको देख पाता है, वैसी दृष्टि अपने-आपपर नहीं डाल पाता। जैसे अपने नेत्रोंकी पुतली अपनी आँखसे नहीं दीखती, वैसे ही अपने गुण-दोष भी मनुष्यको नहीं दीखते। वस्तुतः आत्म-निरीक्षणके लिये भी किसी सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न अन्य सत्पुरुषकी सहायताकी ही आवश्यकता है। साधककी त्रुटियोंकी जानकारी किसी अनन्तदर्शी-सत्पुरुषको ही होती है। उसे उसकी हित-भावनापर विश्वास होना भी आवश्यक है। जिसके जीवनमें अपने किसी हितैषीपर पूरा विश्वास न हो, उस संशयालुको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। उसका अहंकार कितना बड़ा है और वह कितना असहाय है—इस बातको वह स्वयं समझ नहीं पाता। अपने लक्ष्यके प्रति भी वह आस्थावान् नहीं है; क्योंकि अपने लक्ष्य-वेधके प्रति यदि उत्साह और तत्परता होती तो वह झूठा अहंकार छोड़कर अपनी त्रुटियोंको समझने, मानने और दूर करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाता। वस्तुतः वह अपनी नासमझीको ही बड़ी समझदारी मानकर सत्यसे विमुख हो रहा है।

क्या आप अपनी जीवनचर्यासे और प्रगतिसे सन्तुष्ट

हैं? क्या आपने समग्र जीवनके लिये निष्ठापूर्वक इसी स्थितिका वरण कर लिया है? यदि नहीं तो आपको उस स्थितिका बोध प्राप्त करना चाहिये; जहाँ पहुँचना है। अज्ञात मार्गसे अज्ञात लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अज्ञानमें रहकर कैसे अग्रसर हुआ जा सकता है? अनुपलब्ध-अनमिले साधन और अनजाने मार्गसे, आप वहाँ कैसे पहुँच पायेंगे? आपको एक अनुभवी सन्त और सुहृद् पथ-प्रदर्शककी अपेक्षा है। क्या आप भीतर-ही-भीतर इस अपेक्षाका अनुभव करते हैं? क्या आपके हृदयमें इसकी पिपासा है?

अपने हितैषीके प्रति जो श्रद्धा, विश्वास अथवा सेवा-भावना है, वह उसका उपकार करनेके लिये नहीं है। 'मैं अपनी सेवाके द्वारा उसको उपकृत करता हूँ या सुख पहुँचाता हूँ'—यह भावना भी अपने अहंकारको ही आभूषण पहनाती है। विश्वास या श्रद्धा दूसरेको अलंकृत करनेके लिये नहीं होती, वह अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये होती है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी तो हानि भी हो सकती है। लाभ उसीको होता है, जो सद्भावसे सेवा करता है। अतएव सेवा करते समय यह नहीं देखना चाहिये कि हम किसकी सेवा कर रहे हैं? भाव यह होना चाहिये कि सेवाके द्वारा हम अपना स्वभाव अच्छा बना रहे हैं; अर्थात् अपने स्वभावसे आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता आदि दोषोंको दूर कर रहे हैं। यह सेवा हमारे लिये गंगाजलके समान निर्मल एवं उज्ज्वल बनानेवाली है। वस्तुतः सेवाका फल कोई स्वर्गादिकी प्राप्ति नहीं है और न धन-धान्यकी। सेवा स्वयंमें सर्वोत्तम फल है। जीवनका ऐसा निर्माण जो अपनेमें रहे, सेवा ही है। सेवा केवल उपाय नहीं है, स्वयं उपेय भी है। उपेय माने प्राप्तव्य। यदि आपकी निष्ठा सेवामें हो गयी तो कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। जिनके मनमें—'हमें तो सेवाका कोई फल नहीं मिला'—ऐसी कल्पना उठती हो, वे सेवाका रहस्य नहीं



जानते। उनकी दृष्टि अपनी प्राप्त जीवनशक्ति एवं प्रज्ञाके सदुपयोगपर नहीं है, किसी आगन्तुक पदार्थपर है। सेवा कभी अधिक नहीं हो सकती; क्योंकि जबतक अपना सम्पूर्ण प्राण सेवामें समा नहीं गया, तबतक वह पूर्ण नहीं हुई, अधिकताका तो प्रश्न ही क्या? सच पूछा जाय तो सेवा ही जीवनका साधन है और वही साध्य भी है।

विश्वको सेवाकी जितनी आवश्यकता है, उसकी तुलनामें हमारी सेवा सर्वथा तुच्छ है। यदि विश्वकी सेवाके लिये क्षीर-सागरके समान सेवाभावकी आवश्यकता है तो हमारी सेवा एक सीकर-(बूँद)-के बराबर भी नहीं है। सेवकके प्राण अपनी सेवाकी अल्पता देख-देखकर व्याकुल होते हैं और उसकी वृद्धिके लिये अनवरत प्रयत्नशील रहते हैं। जिसको अपनी सेवासे आत्मतुष्टि हो जाती है, वह सेवारसका पिपासु नहीं है। पिपासा अनन्त रसमें मग्न हुए बिना शान्त नहीं हो सकती। वह रस ही सेवकका सत्य है। सेवा इसी सत्यसे एक कर देती है।

सेवाद्वारमको योगियोंके लिये भी गहन कहा गया है—‘सेवाद्वारमः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः’ वह कठिन भी कम नहीं—‘सब तें सेवक धरमु कठोरा।’ उसे समझना भी कठिन है। वस्तुतः जबतक सेवाके लिये किसी उद्दीपनकी अपेक्षा रहती है, तबतक सेवा नैमित्तिक है, नैसर्गिक नहीं। सेवा सेव्यसे दूर रहकर भी हो सकती है और जो सम्मुख हो, उसकी भी हो सकती है। जैसे सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमाका आह्लाद सहज उल्लास है, वैसे ही सेवाका आलम्बन चाहे कोई भी हो, उसमें सेवकको परमतत्त्वका ही दर्शन होता है। आलम्बन बनानेमें अपने पूर्ण संस्कार या पूर्वाग्रह काम करते हैं, परंतु सब आलम्बनोंमें एक तत्त्वका दर्शन करनेसे शुभग्रह एवं अशुभग्रह दोनोंसे प्राप्त इष्ट-अनिष्टकी निवृत्ति हो जाती है और सब नामरूपोंमें अपने इष्टका ही दर्शन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि सेवा न केवल चित्तशुद्धिका साधन है, प्रत्युत शुद्ध वस्तुका अनुभव भी है। अतः सेवा कोई पराधीनता नहीं है, यह स्वातन्त्र्यका एक विलक्षण प्रकाश है, दिव्य-ज्योति है।

आप जो पाना चाहते हैं या जैसा जीवन बनाना चाहते हैं, उसे आज ही पा लेनेमें या वैसा बना लेनेमें क्या आपत्ति है? आप अपने जिस भावी जीवनका मनोराज्य करते हैं, वैसा अभी बन जाइये। उस जीवनको प्राप्त करनेके लिये अभ्यासकी पराधीनता क्यों अंगीकार करते हैं? आप जैसा जो कुछ होना चाहते हैं, अभी हो जाइये। अपने जीवनको भविष्यके गर्तमें फेंक देनेसे क्या लाभ? आप सेवापरायण होना चाहते हैं तो हो जाइये। आपका जीवन क्या अपनेसे दूर है? क्या उसके प्राप्त हो जानेमें कोई देर है? फिर दुविधा क्यों है? सच्ची बात यह है कि आपके जीवनमें कोई ऐसी वस्तु घुस आयी है, आपके अन्तर्देशमें किसी वस्तु या व्यक्तिकी आसक्तिने ऐसा प्रवेश कर लिया है कि आप उसका परित्याग करनेमें हिचकिचाते हैं। इसीसे जैसा होना चाहते हैं, वैसा हो नहीं पाते। आप मनके निर्माणके चक्रव्यूहमें मत फँसिये, शरीरको ही वैसा बना लीजिये। मन भी वस्तुतः एक शारीरिक विकास ही है। शरीर अपने अभीष्ट स्थानपर जब बैठ जाता है तो मन भी अपनी उछल-कूद बन्द कर देता है। पहले मन ठीक नहीं होता, मनको ठीक किया जाता है। आप जो सेवाकार्य कर रहे हैं, वह आपकी साधना है। सम्पूर्ण जीवनको उसीमें परिनिष्ठित करना है। अतः साध्य स्थितिको बारम्बार अनुभवका विषय बनाना ही साध्यमें स्थित होना है।

आपकी सेवाका प्रेरक स्रोत क्या है? क्या किसी मनोरथकी पूर्तिके लिये सेवा करते हैं? क्या अहंकारकी आकांक्षा है? क्या सेवाके द्वारा किसीको वशमें करना चाहते हैं? तो सुन लीजिये, यह सेवा नहीं, आपके स्वार्थका ताण्डव नृत्य है। अपनी सेवाको पवित्र रखनेके लिये सूक्ष्म-दृष्टिकी आवश्यकता है।

आपकी सेवामें किसीसे स्पर्धा है? आप किसीकी सेवासे अपनी सेवाकी तुलना करते हैं? दूसरेको पीछे करके स्वयं आगे बढ़ना चाहते हैं? किसी दूसरेकी सेवा देखकर आपके मनमें जलन होती है? क्या आप ऐसा सोचते हैं कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरी सेवामें बाधा पड़ती है? स्पष्ट है कि आप सेवाके मर्मस्पर्शी अन्तरंग

रूपको नहीं देख पाते। सेवा चित्तको सरल, निर्मल एवं उज्ज्वल बनाती है। उसमें अनुरोध-ही-अनुरोध है, किसीका विरोध या अवरोध नहीं है।

श्रद्धासे सम्पृक्त सेवाका नाम ही धर्म है। स्नेह-युक्त सेवा वात्सल्य है। मैत्रीप्रवण सेवा ही सख्य है। मधुरसेवा ही शृंगार है। प्रेम-सेवा ही अमृत है। सेवा संयोगमें रससृष्टि करती है और वियोगमें हितवृष्टि करती है। सेवा वह दृष्टि है, जो पाषाणखण्डको ईश्वर बना दे, मिट्टीके एक कणको हीरा कर दे। सेवा मृतको भी यशःशरीरसे अमर कर देती है। इसका कारण क्या है? सेवामें अहंकार मिट जाता है, ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

सेवा-निष्ठाकी परिपक्वताके लिये उसका विषय एक होना आवश्यक है। वह भले ही माँ हो, पिता हो, पति हो, गुरु हो या इष्ट हो; सबमें ईश्वर एक है। एककी सेवा अचल हो जाती है और कोई भी वस्तु अपनी अचल स्थितिमें ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती। चल ही दृश्य होता है, अचल नहीं। अचल अदृश्य और ज्ञात होकर ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है, अतः किसी भी साधनामें निष्ठाका परिपाक ही सिद्धि है। यदि सेवाका विषय अन्य रूपसे स्फुरित होगा तो उपासनाका विषय ईश्वर होगा। यदि सेवाकी वृत्ति परिपक्व दशामें शान्त हो जायगी तो वह आत्मासे भिन्न न दीखेगी। यही कारण है कि सेवाका आश्रय और विषय एक हो जाता है और सेवक-सेव्यमें भेद नहीं रह जाता। यदि विचारकी उच्च कक्षामें बैठकर देखा जाय तो निःसन्देह अद्वैत स्थिति और अद्वैतवस्तुका बोध एक हो जायगा। अन्तर्वाणी स्वयं महावाक्य बनकर प्रतिध्वनित होने लगेगी। अतः साधनाका प्रारम्भ सेवासे होकर सेवाकी अनन्यता, अनन्तता एवं अद्वितीयतामें ही परिसमाप्त हो जाता है।

सेवाके प्रारम्भमें स्व-सुखकी वासना रहती है। अपने इष्टकी सेवा करे, सुख पहुँचाकर सेवक सुखी होता है। इससे एक लाभ तो यह होता है कि शनैः-शनैः सुखी होनेके निमित्तों और उपादानोंसे निवृत्ति होने लगती है। केवल अपने इष्टके सुखसे ही सुखी होनेका

स्वभाव बन जाता है और अन्यकी ओरसे निवृत्ति हो जाती है। यह स्वार्थ होनेपर भी निवृत्तिका साधन है, इसलिये प्रारम्भिक दशामें इसको दोष नहीं कहा जा सकता। 'तत्सुखे सुखित्वम्' (ना० भ० सू० २४)— यह प्रेमका प्रथम लक्षण है। जिस हृदयमें अपने इष्टको देखना है, रखना है, उसमें प्रियताका, सुखका परिप्रेक्ष्य होना भी आवश्यक है। अपने इष्टके सुखके लिये ही अपने हृदयमें सौम्य, माधुर्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य और सौस्वर्यके साथ-ही-साथ हितभावकी भूमिकाका आना अपेक्षित है। जो हृदय इष्टकी मुसकान देखकर मुसकुराता नहीं, उसका प्रेम प्रकाशमयी चितवनके साथ प्रफुल्लित नहीं हो जाता, उसमें निष्ठा देवी पदार्पण नहीं करती, परंतु यह रसास्वादन एक प्रकारका स्वार्थ ही है। सेवा कोटि-कोटि दुःखको वरण करके भी अपने स्वामीको सुख पहुँचाती है। व्यजन करनेवाला स्वयं प्रस्वेद-स्नान करके भी अपने इष्टको व्यजनकी शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुसे तर करता है। यही सेवा 'मैं' के अन्तर्देशमें विराजमान परमात्मासे एक कर देती है।

सेवामें इष्ट तो एक होता ही है, सेवक भी एक ही होता है। वह सब सेवकोंसे एक होकर अनेक रूप धारण करके अपने स्वामीकी सेवा कर रहा है। अनेक सेवकोंको अपना स्वरूप देखता हुआ, सेवाके सब रूपोंको भी अपना ही रूप देखता है। अपने इष्टके लिये सुगन्ध, रस, रूप, स्पर्श और संगीत बनकर वह स्वयं ही उपस्थित होता है। सेवकका अनन्य भोग्य स्वामी होता है और स्वामीका अनन्य भोग्य सेवक। सभी गोपियोंको राधारानी अपना ही स्वरूप समझती हैं और सभी विषयोंके रूपमें वही श्रीकृष्णको सुखी करती हैं। भिन्न दृष्टि होनेपर ईर्ष्याका प्रवेश हो जाता है। सेवामें ईर्ष्या विष है और सरलता अमृत।

सेवामें समाधि लगना विघ्न है। किसी देश-विशेषमें या काल-विशेषमें विशेष रहनीके द्वारा सेवा करनेकी कल्पना वर्तमान सेवाको शिथिल बना देती है। सेवामें अपने सेव्यसे बड़ा ईश्वर भी नहीं होता और

सेवासे बड़ी ईश्वराराधना भी नहीं होती! भक्त पुण्डरीककी कथाके द्वारा यही रहस्य स्पष्ट किया गया है। स्वयं रसास्वादन करनेसे भी स्वामीको सुख पहुँचानेमें बाधा पड़ती है। किसी भी कारणसे किसीके प्रति भी चित्तमें कटुता आनेपर सेवा भी कटु हो जाती है; क्योंकि सेवा शरीरका धर्म नहीं, रसमय हृदयका मधुमय नित्य नूतन उल्लास है। सेवा भाव है, क्रिया नहीं है। भाव मधुर रहनेपर ही सेवा मधुर होती है। इस बातसे कोई सम्बन्ध नहीं कि वह कटुता किसके प्रति है। किसीके प्रति भी हो, रहती तो हृदयमें ही है। वह कटुता अंग-प्रत्यंगको अपने रंगसे रँग देती है, रोम-रोमको कषाय-युक्त कर देती है। अतः अविश्रान्त रूपसे अपने अन्तरको नितान्त शान्त रखकर रोम-रोमसे रसका विस्तार करना ही सच्ची सेवा है। अपना स्वामी ही सब कुछ है और हमारा सब कुछ उसकी सेवा है।

स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता है। सेवकका अस्तित्व पृथक् नहीं होता। अस्तित्व पृथक् होते ही एक नया 'मैं' उत्पन्न हो जाता है और वह सेवारसको अपनी ओर समेटने लगता है। ऐसी स्थितिमें सेवाका

रूप संकीर्ण हो जाता है, नित्य-निरन्तर उदीर्ण नहीं रहता। सतत उदीर्ण न रहनेपर वह स्वामीको अविरत रूपसे सुख भी नहीं दे सकता। स्वामीका ज्ञान ही सेवकका ज्ञान है। जहाँ ज्ञानमें भिन्नता आयेगी, वहाँ मतभेद होनेकी सम्भावना बनी रहेगी और बुद्धि अहंके पक्षमें आबद्ध हो जायगी। निश्चय ही मतभेदमें वैमनस्यका बीज निहित रहता है। वह आज या कल अंकुरित होगा और सेवाको कुण्ठित कर देगा। स्वामीका सुख ही सेवकका सुख है, उसका अपना कोई अलगसे सुख नहीं है। अलग सुख सेवककी परिच्छिन्नता, स्वार्थ और पृथक्ताका पोषक है। सेवकका जबतक अपने स्वामीसे तादात्म्य नहीं हो जाता, वेदान्तकी भाषामें—जबतक सेवकावच्छिन्न चैतन्य स्वाम्यवच्छिन्न चेतनसे एक नहीं हो जाता, तबतक सेवा पूर्ण नहीं होती। यह एकताका भाव स्थिति या सायुज्य नहीं है। सेवाकी पूर्णताका अर्थ है—राधा-कृष्णकी एकता या आत्मा-परमात्माकी एकता। पूर्ण एकतामें द्वैत नितान्त बाधित हो जाता है। यही सेवा है और साधनाका लक्ष्य भी यही है। सेवा निष्ठाका स्वारस्य भी यही है।

भक्ति अर्थात् सेवा

(स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

यों तो ईश्वरविषयक परानुरक्ति (परम प्रेम)-को 'भक्ति' कहा गया है; फिर भी जिससे प्रेम होगा, उसकी सेवाका होना स्वभावतः निवार्य है; अतएव 'भक्ति' शब्दका धात्वर्थ है 'सेवा'। किसी भी कर्मका सम्बन्ध भगवान्के साथ हो जानेपर वह कर्मयोग बन जाता है और इसीका दूसरा नाम है—'भक्ति'। इसे स्पष्ट करनेके लिये एक लोकगाथाको उद्धृत किया जाता है। एक देहाती किसानने उस समयके एक प्रसिद्ध संतके समीप विधिवत् जाकर जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मुझ दीन, हीन, अकिंचनपर दया कीजिये और मुझे आनन्दकन्द प्रभुकी प्राप्तिका उपाय बताइये।' नवप्रसूता गाय बछड़ेको देखकर जैसे पिन्हा जाती है, वैसे ही सन्त भी भोले-

भाले जिज्ञासुको देखकर प्रसन्न हो गये और सुधा-सनी वाणीमें बोले—'प्रभुके प्यारे, जगत्के अन्नदाता कृषकदेव! मन, वाणी तथा कायासे जो कुछ करें, प्रभुके लिये ही करें। आपके अधिकारानुसार आपके हिस्सेमें आया हुआ कृषिकर्म आपके लिये अवश्यकर्तव्य है। आपके स्वभावानुसार आपके लिये नियत इस कर्मको प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेकी नीयतसे करते रहनेपर पाप, अपराध एवं रोगादिके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती, यद्यपि इस कार्यको वर्षा, शीत-आतप आदिमें खुले आकाशके नीचे, खड़े पैर, घोर परिश्रमके साथ करना होता है। इतनेपर भी सफलताकी कोई गारन्टी नहीं, मेघ-देवताका मुख ताकना पड़ता है; इस प्रकार यह कर्म

विवाह, द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना, साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोक-हितार्थ वितरण करना-कराना, ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक साहित्यको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना, दूकान खोलकर या लारियोंद्वारा ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा' में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके लिये परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

निरपेक्ष सेवा-धर्म

(संत श्रीविनोबा भावे)

हम पैदा होते हैं, तब तीन संस्थाएँ साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभाँति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके, इस विषयमें गीता हमारा पथ-प्रदर्शन करती है।

वे तीन संस्थाएँ कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आसपास लपेटा हुआ यह शरीर, दूसरी संस्था हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड—यह अपार सृष्टि है, जिसके हम एक अंश हैं। वह समाज, जिसमें हमारा जन्म हुआ, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीनों संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन (कमी) आती है, उसकी पूर्तिके लिये हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवनको सफल बनायें। इन संस्थाओंके प्रति हमारे जो जन्मजात कर्तव्य हैं, उन्हें हम निरहंकार होकर करें।

इन कर्तव्योंको पूरा तो करना है, परंतु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं तथापि इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते। यदि हम इनका सही अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनका धर्म बनानेका प्रयत्न करें तो ये तीनों संस्थाएँ सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्ति और प्रसन्नतासे आप्लावित हो जाय।

सबसे पहले हम यह देखें कि यज्ञका अर्थ क्या है? सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। यदि सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहाँकी सारी सृष्टि दूषित दिखायी देने लगती है। वहाँकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गन्दी कर देते हैं, अन्न खा जाते हैं और इस तरह सृष्टिको छिजाते हैं। हमें सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी पूर्ति करनी चाहिये। इसीलिये यज्ञका आविर्भाव हुआ।

सृष्टिकी जो हानि हो गयी है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस (उर्वरक-शक्ति) कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो। जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो, उसमें खाद डालो; सृष्टिकी हानि पूरी करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है—उपयोगमें लायी हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएँका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गन्दगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएँके पासकी यह सृष्टि जो अशुद्ध हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिये। वहाँका गन्दा पानी निकाल डालना चाहिए, कीचड़ दूर कर देना चाहिये। क्षति-पूर्ति और सफाई करनेके साथ ही वहाँ कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिये, यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हम रोज कपड़े पहनते हैं तो हमें चाहिये कि रोज सूत कातकर उसकी कमी पूरी कर दें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना और सूत कातना भी यज्ञ-

क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण किया जाता है, वह स्वार्थके लिये न होकर हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य-भावनासे होना चाहिये। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं। हम जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर आते हैं, इस ऋणको चुकानेके लिये हम जो कुछ निर्माण करें, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति, उसकी शुद्धि करनेके लिये एवं नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिये हमें यज्ञ करनेकी जरूरत है।

अन्य संस्था है—हमारा मनुष्य-समाज। माँ-बाप, गुरु, मित्र—ये सब हमारे लिये मेहनत करते हैं। इस समाजका ऋण चुकानेके लिये दानकी व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है—समाजका ऋण चुकानेके लिये किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने बहुत सेवा ली है, जब मैं इस संसारमें आया तो दुर्बल और असहाय था, इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है; इसलिये समाजकी सेवा मेरा कर्तव्य है। परोपकार कहते हैं—दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको; परंतु यहाँ तो हम समाजमें पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिये जो सेवा की जाय, वही दान है। सृष्टिकी हानि-पूर्तिके लिये जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है और समाजका ऋण चुकानेके लिये तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इनके अलावा एक तीसरी संस्था और है, वह है—शरीर। शरीर भी दिन-प्रतिदिन छीजता (नष्ट होता) जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय—सबसे काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीर-संस्थामें जो विकार—जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिये (मन, शरीर और इन्द्रियोंका संयमरूप) तप बताया गया है। इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंका कार्य जैसे अच्छी प्रकार चल सके, वैसा व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाओंका निर्माण करते हैं; परंतु ये तीन संस्थाएँ हमारी बनायी हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही

हमको मिल गयी हैं। ये संस्थाएँ कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीनों संस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। इस तरहसे चलनेपर जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है, वह सारी इस (धर्म-पालन)—में लग जायगी, अन्य बातोंके लिये और शक्ति बाकी ही नहीं बचेगी।

सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंको समुचित रखनेके लिये हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें—‘हे प्रभो! तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूँ, तू इसे अच्छी तरह सँभालकर देख ले।’ तो यह कितनी बड़ी सफलता है? परंतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें हमें यज्ञ, दान और तप—यह त्रिविध कार्यक्रम पूरा करना चाहिये।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहाँ अलग-अलग माना है; परंतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं हैं; क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर—ये भिन्न-भिन्न संस्थाएँ हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिसे बाहर है। इन तीनोंकी एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसलिये हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उस सबको व्यापक अर्थमें यज्ञ ही कहा जा सकता है। गीताने चौथे अध्यायमें द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ आदि बताकर यज्ञके अर्थको विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिये हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञ-रूप ही होंगे। केवल जरूरत है, उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी। उसमें फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं, कर्जा तो पहलेसे ही सिरपर चला आ रहा है। जो ले लिया है, उसे ही वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्रतिष्ठित होती है। दानसे समाजको साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका यह कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी। दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

सेवामय-जीवन

(गीतामनीषी स्वामी श्रीवेदान्तानन्दजी महाराज)

‘सेवा’ शब्द देखने, पढ़ने, सुनने एवं बोलनेमें अति लघु—छोटा है, परंतु इसके अर्थ, भाव एवं परिणाम अतिशय गहन, विशाल, महान् एवं रहस्यमय हैं। सेवा शब्द मिठास एवं रससे परिपूर्ण है। सेवा वशीकरणका मन्त्र है, आशीर्वादका तन्त्र है तथा सफलताका यन्त्र है।

सेवाका अभिप्राय—१. सेव्यमें लीन अर्थात् एकरूप-एकरस हो जाना। २. स्वयं कष्ट उठाकर समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना। ३. स्वार्थरहित, कामनारहित एवं अहंकाररहित होना। ४. कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका सम्पादन, कर्मोंको अकर्म बनाना। ५. दयाके भावोंको क्रियान्वित करने—व्यावहारिक रूप प्रदान करनेकी दिव्य कला।

साधक यहाँ विशेष ध्यान दें कि सेवाका तात्पर्य निष्काम सेवासे है।

निष्काम सेवाका अद्भुत लाभ—१. अहंकारका नाश एवं विनम्रताका विकास। २. मनकी निर्मलता एवं एकाग्रता। ३. खुली आँखोंसे समाधिके आनन्दकी दिव्यानुभूति। ४. मन स्व (आत्मा-परमात्मा)-में स्थित अर्थात् ईश्वर-दर्शन। ५. पुनर्जन्मकी समाप्ति एवं मोक्षपदकी प्राप्ति।

निष्काम सेवीके लक्षण—वह अध्यात्मवादी, समतावादी, आशावादी, परम उत्साही, धैर्यवान् ‘**धृत्युत्साह-समन्वितः**’ (गीता १८।२६), सदाचारी, सर्वहितकारी, निःस्वार्थी, निरभिमानी एवं भगवद्भक्त होता है।

सावधान साधक! सेवामें अभिमान एवं स्वार्थ सेवकके सारे पुरुषार्थको मिट्टीमें मिला देते हैं।

जब सेवाभावका वास्तविक स्वरूप जाना जाता है, किंवा जीवन सेवामय हो जाता है तो दिव्यानन्द, अखण्ड आनन्दकी अनुभूति हृदय-मन्दिरमें स्वतः होने लगती है। हमारी भारतीय सनातन-पुरातन संस्कृति अद्भुत है, जिसमें मानवके परम-लक्ष्य (ईश्वरदर्शन-आत्मसाक्षात्कार)-को परिलक्षित करनेहेतु अनेकानेक साधनोंपर प्रकाश डाला गया है। यथा—जप, तप, व्रत, पूजा, पाठ, संयम, नियम, सत्संग तथा सुमिरन इत्यादि। निःसन्देह इन सब

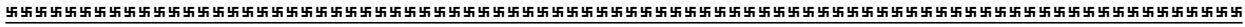
साधनोंका सम्पादन अनिवार्य रूपसे करना चाहिये, जिससे अन्तःकरणमें एक विशेष प्रकारकी सात्त्विकता, स्थिरता, प्रसन्नता एवं सद्भावनाका उदय होता है। ईश्वर-प्राप्तिके इन साधनोंमें सेवाभाव सरल, सहज, सरस तथा श्रेष्ठ साधन है। कारण, सेवाके अतिरिक्त जितने भी आध्यात्मिक साधन हैं, उनमें साधककी स्वकल्याणकी भावना निहित रहती है, किंतु सेवामें स्वयंका उद्धार होता है, परमशान्ति और आत्मतृप्तिकी अनुभूति होती है, इसके साथ-ही-साथ समस्त भूत-प्राणियोंका हित, उत्थान, विकास एवं उद्धार भी होता है। वह तरनतारन बन स्वयं तो तरता है, सबका तारक भी बन जाता है—

‘स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।’

परहितके समान कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं-कर्तव्य नहीं—

‘**परहित सरिस धर्म नहि भाई**।’ अतः प्रत्येक कल्याणकामी साधकको ऐसे क्रान्तिकारी संसाधनको व्यावहारिक रूप देना चाहिये। ऐसा सेवक-उपासक परमेश्वरकी विशेष अनुकम्पा और प्रेमका अधिकारी बन जाता है। परहितरत सेवकसे भगवान् अतिशय प्रेम करते हैं।

सिद्धान्तको प्रकट करनेवाला एक दिव्य दृष्टान्त—किसी नगरमें एक भगवद्भक्त थे, जो सदैव भगवच्चिन्तनमें लीन रहते थे। संयमित एवं मर्यादित जीवन था उनका। एकबार एक देवदूत दो प्रकारकी सूचियाँ लेकर उस भजनानन्दी भक्तके घर प्रकट हुआ। उसने देवदूतका अभिनन्दन एवं अभिवादनकर पूछा—‘आपके करकमलोंमें ये सूचियाँ कैसी हैं?’ देवदूतने प्रथम सूची दिखाकर कहा—‘इस सूचीमें उन महानुभावोंके शुभ नाम अंकित हैं, जो सर्वेश्वरसे प्रेम करते हैं।’ तब उस भक्तने बड़ी उत्सुकतापूर्वक पूछा—‘देवदूत! क्या मेरा नाम भी इस सूचीमें है?’ देवदूतने कहा—‘सबसे ऊपर आपका ही शुभ नाम अंकित है।’ उस भक्तने पुनः पूछा—‘यह दूसरी सूची कैसी है?’ देवदूतने कहा—‘भक्तप्रवर! इस सूचीमें उन भक्तोंके नाम हैं, जिन्हें भगवान्श्री अतिशय प्यार करते हैं।’



उस भक्तने पूछा—‘इस सूचीमें भी मेरा नाम अंकित है क्या?’ देवदूत बोले—‘है तो सही, परंतु इसमें आप प्रथम स्थानपर नहीं, दूसरे स्थानपर हैं। प्रथम स्थान तो आपके अमुक पड़ोसीका है।’ उस भक्तने आश्चर्यचकित होकर कहा—‘देवदूतजी! उस व्यक्तिको तो कभी बैठकर आरती-पूजा-पाठ करते नहीं देखा। वह कभी ईश्वरके नामका जप-भजन तथा सुमिरन भी नहीं करता। वह तो केवल दीन-दुखियोंकी, कुष्ठरोगियोंकी, बीमारोंकी अथवा अनार्थोंकी सेवा करता रहता है। प्यासोंको पानी, भूखोंको रोटी, धनहीनोंको धन, जरूरतमन्द कन्याओंकी शादी, निर्धन बच्चोंको पढ़ानेमें ही लगा रहता है।’ देवदूतने कहा—‘यही कारण है कि भगवान् उससे सबसे अधिक प्यार करते हैं। नर-सेवा ही नारायण-सेवा है। दीनोंकी सेवा ही दीनानाथ, द्वारकानाथ, जगन्नाथकी सेवा है। जनसेवा ही जनार्दनकी सेवा एवं पूजा है; क्योंकि सर्वेश्वरसे भिन्न कुछ भी नहीं है।’ गीता-उपदेष्टा इस तथ्य एवं सत्यको बड़े सुन्दर ढंगसे प्रकट करते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

अर्थात् हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुंथा हुआ है।

ऐसे परसेवारत भक्तोंके लिये ही तो भगवान् कहते हैं—‘**मैं भक्तोंका दास भक्त मेरे मुकुटमणि।**’ ऐसे परहितकारिताकी पावन गंगामें डूबे भक्तोंकी आन्तरिक दिव्य भावनाको पुनः-पुनः नमन करते हैं—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मेरे प्राणप्रिय! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सुनो।

मुझे राज्य-वैभव नहीं चाहिये। स्वर्ग-सुखकी भी चाहना नहीं, मुक्तिका आनन्द भी नहीं चाहिये। मात्र एक प्रबल इच्छा है कि दुःखोंकी भड़कती आगमें जलते हुए, तपते हुए प्राणियोंके सब कष्ट दूर हो जायँ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें भी राजा रंतिदेव दुःखोंकी आगमें झुलसते हुए प्राणियोंको देखकर दयायुक्त अमृतमय वचन कहते हैं—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-

मष्टद्विद्युक्तामपुनर्भवं वा।

आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-

मन्तःस्थितो येन भवन्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

भगवन्! मैं आपसे आठों सिद्धियोंसे युक्त परमगति नहीं चाहता और तो क्या, मैं मोक्षकी कामना भी नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी भी प्राणीको दुःख न हो।

यह अद्भुत परहितकारिताकी मिसाल है, जो अति सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य घोषणा करते हैं कि समस्त प्राणियोंकी मनसा-वाचा-कर्मणा सेवा तथा हित करनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं—

‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।’

(गीता १२।४)

‘सर्वभूतहिते रताः’ की मशाल जलानेवाले प्रभुके भक्तको चाहिये कि वह समदर्शी, समबुद्धि, समतामें स्थित तथा समस्त इन्द्रियोंको संयमित रखे। अन्यथा इस सेवा-सूत्रको अपनाना प्रदर्शनमात्र ही बन जायगा। भगवान्श्री यहाँ सब परहितकारी भक्तोंको सचेत करते हैं—

‘सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्ध्यः।’

(गीता १२।४)

अर्थात् सभी इन्द्रियाँ वशमें करते हुए योगी सभीमें समबुद्धि रखे।

आज प्रत्येक व्यक्ति शान्ति तो चाहता है, परंतु दूसरोंको दुःख देकर, यह कदाचित् सम्भव नहीं। दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा, सुख दोगे तो सुख निश्चितरूपसे मिलेगा। प्रसिद्ध भी है—जैसा बोओगे, वैसा काटोगे।

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

यदि एक हाथ दूसरे हाथको चन्दन लगाता है तो जिस हाथपर चन्दन लगा है, वह तो शीतल होगा। साथ-ही-साथ जिस हाथने चन्दन लगाया है, वह भी ठण्डा होगा।

एतदर्थ सेवाके दिव्य गुणको साकार करनेके लिये मानवको चाहिये कि वह सहयोगी, उपयोगी एवं उद्योगी (Helpful, useful and fruitful) बन जीवन व्यतीत करे।

भजनका व्यापक रूप है—अपनी ओरसे कभी भी किसीको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना। सबकी सेवामें युक्त होकर सुख पहुँचानेकी निष्काम भावपूर्ण चेष्टा ही व्यापक भजन कहलाता है। हम मालाजप भी करें—भजन भी करें, परंतु संसारमें, व्यवहारमें तथा व्यापारमें दूसरोंको दुःख पहुँचायें, धोखा-धड़ी करें, बेईमानी करें, राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा तथा परनिन्दा, परदोषदर्शनमें अमूल्य समय गवायें तो भजन मात्र पाखण्ड बनकर रह जायगा। सारांशमें सबका दुःख बँटा एवं मिटाकर सुख पहुँचानेकी भरपूर चेष्टा करनेसे मानव सदैव शान्त-प्रशान्त रहता है। वह शीघ्र ही ईश्वरदर्शनोंका सुयोग्य अधिकारी बन जाता है।

निष्काम सेवाका आदर्श स्थापित करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके राजसूययज्ञमें स्वयं जूठी पत्तलें उठायीं और आगन्तुकोंका पाद-प्रक्षालन किया। गुरु-आश्रममें झाड़ूतक लगायी। सेवाके प्रसंगमें एक और रहस्यमय तथ्य प्रकट करना अनिवार्य है कि सेवा छोटी-बड़ी नहीं होती है। जिस सेवाकार्यमें आसक्ति नहीं, अभिमान नहीं, कोई अपना स्वार्थ नहीं, वह छोटी सेवा भी महान् सेवा बन जाती है।

गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण सेवाकी दिव्य प्रेरणा देते हैं—

‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।’

(गीता ४।३४)

पुनश्च—‘देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं’ (गीता १७।१४)

‘आचार्योपासनं’ (गीता १३।७)।

गुरु, आचार्य और प्राज्ञजनोंका पूजन करो! सेवा

करो! आज्ञापालन करो! इस प्रकार आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान एवं तत्त्वज्ञान शिष्यके अन्तःकरणमें स्वतः संचारित हो जाता है।

आदिगुरुशंकराचार्यजीके एक पट्ट शिष्य थे—त्रोटकाचार्य! वे मन्दबुद्धि, पढ़ने-लिखनेमें कमजोर, परंतु गुरुकी आज्ञा एवं सेवामें सदैव तत्पर रहते थे। एक दिन सभी शिष्य कक्षामें उपस्थित हो गये, पर त्रोटक नहीं आये। गुरुजीने पूछा—‘त्रोटक कहाँ है? पढ़ाई शुरू की जाय।’ सब शिष्योंने एक स्वरसे कहा—‘वह तो पढ़ना-लिखना जानता नहीं। कृपया उसकी प्रतीक्षाकर समय नष्ट न करें तो अच्छा है।’ परंतु गुरुजी जानते थे कि त्रोटक दिन-रात मेरी निष्काम भावसे सेवा करता है। चर्चा चल ही रही थी—त्रोटक कक्षामें आ गये। पसीनेसे लथपथ थे। आते ही गुरुचरणोंमें नमन किया। गुरुजीने विलम्बसे आनेका कारण पूछा? विनम्रभावसे उत्तर देते हुए कहा—‘गुरुवर! आपके वस्त्र धो रहा था। विलम्ब हो गया, क्षमा चाहता हूँ,’ परंतु गुरुजीने कहा—‘बेटे! आज मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं। मैं विद्यार्थियोंको पढ़ा नहीं पाऊँगा, आज तुम इन्हें पढ़ा दो।’ त्रोटक घबरा गये। कुछ देर बाद बोले—गुरुजी! मैं तो इन सभी विद्यार्थियोंसे मन्दबुद्धि हूँ। ये सब बड़े विद्वान् हैं, समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, मैं इन्हें कैसे पढ़ा सकूँगा। मुझे खुद लिखना-पढ़ना नहीं आता।’ इस बातपर सभी विद्यार्थी व्यंग्यात्मक हँसी हँसने लगे, परंतु गुरुदेवने त्रोटकको अपने आसनपर बैठा दिया। गुरुदेवकी आज्ञा सर्वोपरि होती है। गुरुकृपा तथा निष्काम सेवाके प्रभावसे उसने ऐसा अद्भुत प्रवचन किया कि सभी सहपाठी सुनकर दंग रह गये। बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना ज्ञान त्रोटकको कहाँसे मिला! आज भी त्रोटकाचार्यका नाम आदिगुरुशंकराचार्यके शिष्योंमें बड़े गर्वसे लिया जाता है।

अतः निष्कामभावसे की गयी सेवा कभी निष्फल नहीं जाती। निष्कामसेवी सदा सर्वदा सर्वत्र पूजा जाता है। भगवान् भी ऐसे सेवाभावीके ऋणी एवं आभारी हो जाते हैं।

सेवा-निष्ठाका चमत्कार

मर्यादापुरुषोत्तम विश्वसम्राट् श्रीराघवेन्द्र अयोध्याके सिंहासनपर आसीन थे। सभी भाई चाहते थे कि प्रभुकी सेवाका कुछ अवसर उन्हें मिले, किंतु हनुमान्जी प्रभुकी सेवामें इतने तत्पर रहते थे कि कोई सेवा उनसे बचती नहीं थी। सब छोटी-बड़ी सेवा वे अकेले ही कर लेते थे। इससे घबराकर भाइयोंने माता जानकीजीकी शरण ली। श्रीजानकीजीकी अनुमतिसे भरतजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नकुमारने मिलकर एक योजना बनायी। प्रभुकी समस्त सेवाओंकी सूची बनायी गयी। कौन-सी सेवा कब कौन करेगा, यह उसमें लिखा गया। जब हनुमान्जी प्रातः सरयू-स्नान करने गये, उस अवसरका लाभ उठाकर प्रभुके सम्मुख वह सूची रख दी गयी। प्रभुने देखा कि उनके तीनों भाई हाथ जोड़े खड़े हैं। सूचीमें हनुमान्जीका कहीं नाम ही नहीं था। सर्वज्ञ रघुनाथजी मुसकराये। उन्होंने चुपचाप सूचीपर अपनी स्वीकृतिके हस्ताक्षर कर दिये।

श्रीहनुमान्जी स्नान करके लौटे और प्रभुकी सेवाके लिये कुछ करने चले तो शत्रुघ्नकुमारने उन्हें रोक दिया—‘हनुमान्जी! यह सेवा मेरी है। प्रभुने सबके लिये सेवाका विभाग कर दिया है।’

‘प्रभुने जो विधान किया है या जिसे स्वीकार किया है, वह मुझे सर्वथा मान्य है।’ हनुमान्जी खड़े हो गये। उन्होंने इच्छा की वह सूची देखनेकी और सूची देखकर बोले—‘इस सूचीसे बची सेवा मैं करूँगा।’

‘हाँ, आप सूचीसे बची सेवा कर लिया करें।’ लक्ष्मणजीने हँसकर कह दिया। परंतु हनुमान्जी तो प्रभुकी स्वीकृतिकी प्रतीक्षामें उनका श्रीमुख देख रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तमने स्वीकृति दे दी, तब पवनकुमार बोले—‘प्रभु जब जम्हाई लेंगे तो मैं चुटकी बजानेकी सेवा करूँगा।’

यह सेवा किसीके ध्यानमें आयी ही नहीं थी। अब तो प्रभु स्वीकार कर चुके थे। श्रीहनुमान्जी प्रभुके सिंहासनके सामने बैठ गये। उन्हें एकटक प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखना था; क्योंकि जम्हाई आनेका कोई समय तो है नहीं। दिनभर किसी प्रकार बीत गया। स्नान, भोजन आदिके समय हनुमान्जी प्रभुके साथ बने रहे।

रात्रि हुई, प्रभु अपने अन्तःपुरमें विश्राम करने पधारे, तब हनुमान्जी भी पीछे-पीछे चले। अन्तःपुरके द्वारपर उन्हें सेविकाने रोक दिया—‘आप भीतर नहीं जा सकते।’

हनुमान्जी वहाँसे सीधे राजभवनके ऊपर एक कँगुरेपर जाकर बैठ गये और लगे चुटकी बजाने। उधर अन्तःपुरमें प्रभुने जम्हाई लेनेको मुख खोला तो खोले ही रहे। श्रीजानकीजीने पूछा—‘यह क्या हो गया आपको?’ परंतु प्रभु मुख बन्द न करें तो बोलें कैसे? घबराकर श्रीजानकीजीने माता कौसल्याको समाचार दिया। माता दौड़ी आयीं। थोड़ी देरमें तो बात पूरे राजभवनमें फैल गयी। सभी माताएँ, सब भाई एकत्र हो गये। सब चकित, सब दुखी, किंतु किसीको कुछ सूझता नहीं। प्रभुका मुख खुला है, वे किसीके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दे रहे हैं।

अन्तमें महर्षि वसिष्ठजीको सूचना दी गयी। वे तपोधन रात्रिमें राजभवन पधारे। प्रभुने उनके चरणोंमें मस्तक रखा; किंतु मुख खुला रहा, कुछ बोले नहीं। सर्वज्ञ महर्षिने इधर-उधर देखकर कहा—‘हनुमान् कहाँ हैं? उन्हें बुलाओ तो।’

सेवक दौड़े हनुमान्जीको ढूँढ़ने। हनुमान्जी जैसे ही प्रभुके सम्मुख आये, प्रभुने मुख बन्द कर लिया। अब वसिष्ठजीने हनुमान्जीसे पूछा—‘तुम कर क्या रहे थे?’

हनुमान्जी बोले—‘मेरा कार्य है—प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजाना। प्रभुको जम्हाई कब आयेगी, यह तो कुछ पता है नहीं। सेवामें त्रुटि न हो, इसलिये मैं बराबर चुटकी बजा रहा था।’

अब मर्यादापुरुषोत्तम बोले—‘हनुमान् चुटकी बजाते रहें तो रामको जम्हाई आती ही रहनी चाहिये।’

रहस्य प्रकट हो गया। महर्षि विदा हो गये। भरतजीने, अन्य भाइयोंने और श्रीजानकीजीने भी कहा—‘पवनकुमार! तुम यह चुटकी बजाना छोड़ो। पहले जैसे सेवा करते थे, वैसे ही सेवा करते रहो।’ यह मैया सीताजी और भरत-लक्ष्मणजी आदिका विनोद था। वे श्रीहनुमान्जीको सेवासे वंचित थोड़े ही करना चाहते थे।

‘सब तें सेवक धरमु कठोरा’

[श्रीभरतजीका सेवादर्शन]

(आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा)

प्रस्तुत अर्धाली भक्तशिरोमणि महाकवि तुलसीदासजी-
प्रणीत भगवान् श्रीरामके विग्रहावतार श्रीरामचरितमानसके
हृदय अयोध्याकाण्डके दोहा दो सौ तीन की सातवीं
चौपाई है। यह उस समयका प्रसंग है, जब भरतलालजी
भगवान् श्रीरामको वनसे लौटानेके लिये जाते हैं।
चित्रकूटकी इस यात्रामें भरतजी पैदल चल रहे हैं। उस
समय उत्तम सेवकोंके बारंबार घोड़ेपर सवार होनेके
आग्रहके उत्तरमें वे कहते हैं कि मेरे प्रभु श्रीरामजी तो
इसी मार्गसे पैदल गये हैं और मेरे लिये हाथी-घोड़े
बनाये गये हैं? मुझे तो ऐसा उचित है कि जिस मार्गसे
मेरे स्वामी पैदल गये हैं, उसपर मेरा पैर न पड़े और मैं
सिरके बल जाऊँ—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

(रा०च०मा० २।२०३।७)

सेवकधर्म सबसे कठिन धर्म है। इसके आगे सभी
धर्म सुगम दीख पड़ते हैं। यथा—‘सेवादधर्मः परमगहनो
योगिनामप्यगम्यः’ अर्थात् सेवादधर्म ऐसा कठिन है कि
योगियोंको भी अगम है। सेवकधर्म मानवीय सद्गुणोंमें
सर्वोपरि है। इस धर्मको वही धारण कर सकता है, जो
अपने निहित स्वार्थ और अहंकारके भावसे ऊँचा उठ
चुका हो। कामनारहित तथा स्वार्थरहित कर्मोंमें ही
सेवाका सार और सुफल निहित है।

‘सेवक हित साहिब सेवकाई’ (रा०च०मा०
२।२६८।४) अर्थात् अपने स्वामीकी सेवामें ही सेवककी
भलाई है। यही कारण है कि वेद, शास्त्रों और पुराणोंमें
यह प्रसिद्ध है कि सेवादधर्म कठिन है, ऐसा संसार जानता
है—‘आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवादधरमु कठिन
जगु जाना ॥’ (रा०च०मा० २।२९३।७)

धर्मसार, प्रेममूर्ति भरत सेवकधर्मके चूड़ान्त पुरोध
हैं। ‘साधन सिद्धि राम पग नेहू।’ (रा०च०मा०

२।२८९।८) अर्थात् भरतलालजीका साधन और सिद्धि
दोनों रामपदप्रेम ही है। साध्य रामपदप्रेम ही है न कि
रामपद। रामप्रेम ज्यों-ज्यों वृद्धिगत हो, त्यों-त्यों रामपदका
सान्निध्य आप-ही-आप सुलभ होता जाता है। सेवक
वही होता है जो सेवा करता है, मात्र वचनोंसे सेवक
बननेवाला सेवक नहीं होता है। यद्यपि भगवान् श्रीरामको
तो सभी प्रिय हैं, देवता भी प्रिय हैं, परंतु सेवक परमप्रिय
है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है अर्थात् उसकी
दृढमतिमें जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् स्वामी भगवान्
श्रीरामका स्वरूप है और वह अपनेको उनका सेवक
स्वीकारता है। यथा—

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(रा०च०मा० ४।३)

सेवक भरतलालजी पवित्र, सुशील और उत्तम
सद्बुद्धिसे मण्डित हैं। उनके मनकी शुचिता यह है कि
स्वप्नमें भी उन्हें दूसरे देव एवं अन्य किसीका भी भरोसा
नहीं है। वचनकी पवित्रता यह है कि प्रभुका गुणानुवाद
छोड़ अन्य कोई वचन भरतलालजीके मुँहसे नहीं
निकलता है और शरीर तथा कर्मकी शुचिता यह है
कि तनसे भागवत-धर्म छोड़कर दूसरे धर्मको वे धर्म
नहीं समझते हैं और न ही अन्य कर्म ही करते हैं—
‘सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा’ भरतसरिस सेवकोंके लिये
चरितार्थ है।

भरतजीके ननिहालसे अयोध्या-आगमनपर इक्ष्वाकु-
कुलके गुरु तथा धर्मके व्याख्याता वसिष्ठजी उनके
सम्मुख एक प्रस्ताव रखते हैं कि महाराज दशरथ
प्राणोंका त्याग कर चुके हैं, श्रीरामजी वनमें हैं, अयोध्या
राजाविहीन है। अतः हे भरत! सुरक्षाकी दृष्टिसे राज्यपद
ग्रहण करो—यही महाराज दशरथकी आज्ञा है। नीति
भी कहती है—

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।

ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

(रा०च०मा० २।१७४)

गुरु वसिष्ठके वचनोंका समर्थन करते हुए मन्त्रियोंने कहा— '**कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।**' (रा०च०मा० २।१७५) अर्थात् हे भरतजी!

आप गुरुजीकी आज्ञाका पालन अवश्य कीजिये। उन लोगोंने प्रस्तावमें अपनी ओरसे एक कड़ी जोड़ दी है— '**रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥**' अर्थात् श्रीराघवेन्द्रके आनेपर फिर आपको जैसा उचित लगे वैसा कर सकते हैं। तात्पर्य यह था कि यदि आप सदाके लिये अयोध्याका राज्यपद स्वीकार नहीं करना चाहें तो मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्रके आनेतक स्वीकार कर लें।

रघुकुलगुरु वसिष्ठके प्रस्तावका समर्थन तथा अनुमोदन करती हुई कौसल्या अम्बा बोलीं—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥

(रा०च०मा० २।१७६।१)

अर्थात् हे पुत्र भरत! गुरुदेवकी आज्ञा चाहे प्रिय लगे या अप्रिय, स्वीकार कर लो, जैसे रोगी वैद्यद्वारा बतलाये गये पथ्यको भले ही वह रुचिकर न हो, रोगनाशके लिये स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार गुरुदेवकी आज्ञा पथ्य मानकर ग्रहण कर लो। जिस राज्यपदको स्वीकारनेकी बात भरतजीसे कही जा रही है। उस अयोध्या-राज्यपदका वर्णन देखें—

अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥

(रा०च०मा० २।३२४।६)

अर्थात् अवधराज्य ऐसा है, जिसकी इन्द्र भी सराहना करते हैं और कुबेर जिसका ऐश्वर्य सुनकर लजा जाते हैं।

पर धन्य हैं सेवामूर्ति और प्रेममूर्ति भरतजी, जिनका चरित्र इतना दृढ़ है कि इन सभी सुधीजनोंके आदेश और आग्रहसे मोहित नहीं हुए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका हृदय कठोर है। उनके चरित्रमें दृढ़ता और

कोमलताका तथा सत्य और शीलका मणिकांचनसंयोग है। श्रीभरतलालजीने इसी परिप्रेक्ष्यमें सभी पूजनीय वृन्दसे यह निवेदन किया कि आपलोग मुझे राज्यपद देना चाह रहे हैं, परंतु मैं तो श्रीरघुनाथपदका अभिलाषी हूँ, उसकी प्राप्तिके बिना मुझे हृदयकी सन्तुष्टि, चित्तकी सन्तुष्टि और मनकी शान्ति नहीं मिल रही है।

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।

देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २।१८२)

अर्थात् सेवकशिरोमणि भरतलालजीने कहा कि मैं अपनी दीनता सिर झुकाकर कहता हूँ कि प्रभु श्रीरामके चरणारविन्दको देखे बिना मेरे हृदयकी जलन नहीं मिट सकती है। भरतजीके इस प्रस्तावकी सराहना प्रत्येक अयोध्यावासी करने लगे कि भरतजी श्रीरामके प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हैं—

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

(रा०च०मा० २।१८४।४)

वे सभी अयोध्यावासी जो गुरु वसिष्ठका समर्थन कर रहे थे, वे ही लोग आज भरतजीका समर्थन करते हुए कहने लगे—

अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।

सोक सिंधु बूडत सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥

(रा०च०मा० २।१८४)

अर्थात् हे भरतजी! वनको अवश्य चलिये जहाँ श्रीराम हैं, आपने बड़ी अच्छी सलाह दी, जो शोकसागरमें डूबते हुए लोगोंको उबार दिया।

गुरु वसिष्ठ समाज और समयके ज्ञाता हैं। उन्होंने विचारकर देखा कि अयोध्यामें भावनाके प्रवाहमें विवेक और धर्मका भान नहीं रह गया है, इस समय भरतके विरुद्ध अपनी बात कहना उपयुक्त नहीं है। उनको यह अनुभव होने लगा है कि भरतकी थाह पाना असम्भव है— भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥ गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

(रा०च०मा० २।२५७।२-३)



अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके किनारे खड़ी एक अबला स्त्री समुद्रको पार करनेकी व्यर्थ चेष्टा करे और निराश हो जाय, उसी प्रकार गुरु वसिष्ठ भरतको पार पाना चाहते हैं, पर बारंबार उन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

सेवक भरतके उत्तम सद्बुद्धि और सेव्य श्रीयुगलसरकारके प्रति दृढ़ श्रद्धा तथा विश्वासका ही यह परिणाम है कि वे कहते हैं कि भगवान् श्रीराम वनवासको भेज दिये गये, संसारका कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कह सकता है कि वन भेजनेमें मेरी राय नहीं होगी, परंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे भैया श्रीराम और माता जानकी ऐसा नहीं कह सकते हैं—

परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८२।३)

अर्थात् सीतारामको छोड़कर जगत्में कोई नहीं कहता कि मेरी सम्मति वनवासमें नहीं थी। भरतजी आगे कहते हैं कि चित्रकूट जानेके अतिरिक्त प्रभुके दर्शन करनेके अलावा मुझे दूसरा उपाय नहीं सूझता है, बिना रघुवरके मेरे हृदयको कौन जान सकता है? 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी' टेढ़ा हूँ, तो भी मैं तो शिशु और सेवक ही हूँ अर्थात् प्रभु मेरा अपराध मनमें क्यों धरने लगे? मैं बचपनसे ही प्रभु श्रीरामका सेवक हूँ और शिशुसेवककी रक्षा प्रभु श्रीराम स्वयं करते हैं 'बालक सुत सम दास अमानी॥' 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'

सेवक स्वयं स्वीकारता है कि उसमें अनेक अवगुण हैं, परंतु स्वाभिमानके साथ एक गुणके कारण अभय और निश्चिन्त रहता है और वह गुण है अपने स्वामीका आश्रय।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा०च०मा० ५।३।४)

अर्थात् सेवक स्वामीके और सुत माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है तो प्रभुको पालन करते ही बनता है। सेवक अपने योगक्षेमका कोई उपाय नहीं करता।

योगेश्वर, रसेश्वर श्रीकृष्णने गीतामें यही कहा है कि जो अनन्य सेवक भक्तलोग मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त सेवकों, भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

यद्यपि अभिमान आनेसे ज्ञानका नाश होता है, जैसे—जाति, यौवन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदि। इनके नष्ट हुए बिना जीवको सुखकी प्राप्ति नहीं होती— 'तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै॥' (विनय-पत्रिका १२०) परंतु ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे, प्रत्युत सदा बना रहे कि मैं सेवक हूँ और रघुनाथजी मेरे स्वामी हैं; क्योंकि इस अभिमानके नाशसे सेवकधर्मका नाश है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(रा०च०मा० ३।११।२१)

ऐसे सेवक भरतके विषयमें गुरु वसिष्ठ श्रीरामप्रभुसे कह रहे हैं कि श्रीराम! मैं तो तुम्हारे धर्म और महाराज दशरथके धर्मकी रक्षाहेतु दाँव लगाने आया था, परंतु कठोरधर्मा सेवक भरतके सेवादधर्मसे ऐसा बँध गया हूँ कि उसीकी ओरसे बोलना पड़ रहा है। अब मेरी बुद्धि स्वतन्त्र नहीं है, वह तो भरतकी सेवा-भक्तिके वशमें हो गयी है— 'तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥' (रा०च०मा० २।२५८।७)

इस स्थितिको देखकर भगवान् श्रीरामने भरतलालजीसे कहा—'भरत! तुम बहुत सौभाग्यशाली हो। शिष्य यदि गुरुके चरणोंमें सेवादधर्मसे प्रीति करे तो वह धन्य है, पर यदि गुरु ही शिष्यसे अनुराग करने लगे तो फिर उसकी धन्यताका क्या कहना!

जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥

राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥

(रा०च०मा० २।२५९।५-६)

भगवान् श्रीराम कह रहे हैं कि भरत! मैं तो केवल यही कह सकता हूँ कि हमारे पिता महान् थे। उन्होंने

अर्थात् यहाँ विजय न तो सेवककी हुई और न सेव्यकी अपितु सत्यकी विजय हुई। इस प्रकार दोनोंके सत्यकी रक्षा हुई। भरतजीने कहा कि हे प्रभो! जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना भला चाहे उसकी बुद्धि नीच है। सेवकका हित तो यही है कि सम्पूर्ण सुखों और लोभोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा करे अर्थात् मन-कर्म-वचन—तीनोंसे सेवा करे। जब भरत और श्रीरामका संवाद हुआ तो देवताओंने एक नारा लगाया। नारा लगाते समय नियम तो यह है कि पहले बड़े की जय बोली जाय, फिर छोटेकी। पर देवताओंका नारा देखें—

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआई ॥
(रा०च०मा० २।३०९।१)

अर्थात् धन्य हो भरत! जय हो भगवान् श्रीरामकी। इसका गूढार्थ यह है कि भगवान् श्रीराम असुरोंका विनाशकर सुरोंका कष्ट दूर कर देंगे, इसलिये उनकी जय-जयकार की गयी है। श्रीभरतजी सन्त हैं, भक्त हैं और सेवक हैं, उनकी परम स्तुतिहेतु धन्य कहा गया है; क्योंकि यदि वे प्रभुसे लौट चलनेको कहते तो प्रभु लौट जाते, पर आज प्रभु श्रीरामका जय-जयकार न होता, यह तो श्रीभरत ही थे जिन्होंने दोनों सत्यकी रक्षा की तथा अपने जीवनमें धर्मसारका रूप प्रस्तुत किया।

श्रीभरतजीने सेवक और भक्तके रूपमें प्रभु श्रीरामको ही आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर 'संपति सब रघुपति कै आही' स्वीकारा है। जिसने समस्त वस्तुओंका स्वामी ईश्वरको माना, उसीने ठीक-ठीक धर्मको समझा। इसीलिये गोस्वामीजी उनकी वन्दना में कहते हैं—

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥
(रा०च०मा० १।१७।४)

अर्थात् जिनका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें भ्रमरकी तरह लुब्ध है, उनका पास नहीं छोड़ता है। श्रीभरतलालजीमें सेवक तथा भक्तकी भाँति नेम और प्रेम दोनों ही भगवान् श्रीरामके चरणोंमें सदा रहते हैं। वे प्रभुके चरणारविन्दोंके अनन्य और अकृत्रिम प्रेमी हैं, यही सेवकका गुण है—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥
(रा०च०मा० २।२८९।७)

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥



अयोध्या लौटनेके लिये श्रीभरतजीने प्रभु श्रीरामसे कोई आधार माँगा, जिससे मनको सन्तोष और शान्ति मिले— **'बिनु आधार मन तोषु न साँती।'** प्रभु श्रीरामने उन्हें अपनी पादुका दे दी। भरतजीने उसे जब अपने सिरपर रखा तब भगवान् श्रीरामने कहा—देखो तो तुमने मुझसे आधार माँगा और मैंने तुम्हें भार दे दिया। भरतजीने उत्तर दिया—प्रभो! पादुका पदके लिये होती है, परंतु चरणपादुका देकर आपने स्वीकार कर लिया कि अयोध्याका राजपद आपका है, अब आप जैसा कहें राज्य चला दूँ। यह तो मेरे लिये **'बिमल नयन सेवा सुधरम के'** अर्थात् सेवारूपी सुधर्मके निमित्त निर्मल नेत्र है। जैसे नेत्र बिना कोई चल नहीं सकता, वैसे ही इनके बिना कठिन सेवार्थ नहीं चल सकता, बिना स्वामी सेवा कैसे सम्भव है। तात्पर्यार्थ यह है कि नेत्रसे देखनेसे सेवा ठीक-ठीक होती है, वैसे ही श्रीभरतजीके सेवासुधर्म खड़ाऊँसे बने।

गोस्वामी तुलसीदासजी दोहावली (४८२) में लिखते हैं— **'बिन आँखिन की पानहीं पहिचानत लखि पाय ॥'** अर्थात् अँधेरेमें यदि जूता पड़ा हो और पहननेवाला उसमें पैर डाले तो वह बता देगा कि मैं आपका हूँ या नहीं। यदि यह बात याद रहे कि जिसका पद है, उसीकी पादुका है तो संघर्षकी स्थिति हो ही नहीं सकती। भरतजीने कहा—हमें यही याद बनी रहे कि अयोध्याकी सत्ताके एकमात्र अधिकारी प्रभु श्रीरामजी ही हैं, मुझे केवल उनकी आज्ञाका पालन करना है, सेवक बने रहना है, मेरे लिये यही अभीष्ट है। इसीलिये भरतलालजी नित्यप्रति पादुकाओंका पूजन करते हैं और सारा राज-काज पादुकाओंसे आज्ञा माँग-माँगकर चलाते हैं—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।

मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥

(रा०च०मा० २।३२५)

चरणपादुकाको प्राप्तकर श्रीभरतलालजीको ऐसा लगा कि पादुकाके रूपमें श्रीसीताजी और भगवान्

श्रीराम ही उनके साथ लौट रहे हैं—

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें ॥

(रा०च०मा० २।३१६।८)

भगवान् श्रीरामने श्रीभरतलालजीको पादुका देकर यह सन्देश दिया कि इस संसारमें चेतनमें चेतनका दर्शन करनेवाले ही बहुत कम मिलते हैं, फिर जड़में चेतनको, मुझको पहचान ले सकें, यह क्षमता तो तुम्हींमें है। तुम्हीं पादुकाके रूपमें मुझे पहचानोगे; क्योंकि अचेतनको चेतन और चेतनको अचेतनके रूपमें देखनेका सामर्थ्य मात्र तुम्हींमें है—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को ॥

(रा०च०मा० २।२३८।८)

सेवकशिरोमणि श्रीभरतलालजी योगीकी स्थितिमें जगत्के समस्त दुःखोंसे निवृत्त होकर परमतत्त्व श्रीरामकी प्राप्ति कर लेते हैं— **'जनु जोगीं परमारथु पावा ॥'**

वास्तवमें एक योगी कुशल सेवक ही हो सकता है। भरतलालजीकी तुलना विदेहराज जनकसे की गयी है—दोनोंकी मनोवृत्ति एक ही प्रकारकी है। जनकजीका भगवान् श्रीरामके चरणोंमें गूढ़ प्रेम है और भरतजीके बारेमें भी यही कहा गया है—

जनकजी—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ सनेहू ॥

(रा०च०मा० १।१७।१)

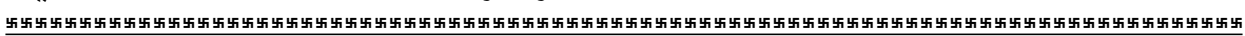
भरतजी—

गूढ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं ॥

(रा०च०मा० २।२८४।४)

स्वामी और सेवकके रूपमें भरतलालजी श्रीरामजीकी छाया हैं— **'भरतहि जानि राम परिछाहीं ॥'** छायामें जो गति और क्रिया दिखलायी देती है, वह वास्तवमें छायाकी अपनी गति या क्रिया नहीं होती है, वह न तो कुछ सोचती है और न ही कोई सुख-दुःख मानती है।

भरतजीने अपने मन-बुद्धि, चित्त और अहंकारको सम्पूर्णतया विलीन कर दिया है— **'मन बुधि चित्त अहमिति बिसराई ॥'** इस प्रकार सेवकके दायित्वको



पूर्णतया निर्वाह करते हुए भरतजीने अपनेको प्रभुके चरणोंमें पूर्ण समर्पित कर दिया है।

सेवकके रूपमें श्रीभरतलालजीमें इतनी निरभिमानिता है कि वे किसीको भी आचार्यत्वका सम्मान दे सकते हैं। उनके चरित्रसे सेवक, साधक और भक्तको सेवा, साधनपथ और भक्तिका ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये वे सिद्ध और (सेवक) साधक दोनोंके लिये समान रूपसे प्रेरक हैं—

निरिख सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेहु सराहन लागे ॥

(रा०च०मा० २।२३८।७)

सेवकको हाथ, पैर और नेत्रके समान होना चाहिये और स्वामी मुँहके समान होना चाहिये। किसी विपत्तिके आनेपर पहले ये ही सहायक होते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वामी और सेवक भी होने चाहिये। तभी प्रत्येक कार्य सुसम्पन्न होगा। श्रीभरतलालजी इन्हीं अंगोंके समान प्रभु श्रीरामसे सम्बन्धका निर्वाह करते हैं।

‘सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।’

(रा०च०मा० २।३०६)

इसी सेवार्थकी उदात्तताके कारण ही परम

त्यागी, सर्वथा निःस्पृह, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मापुत्र वसिष्ठजीने भरतलालजीको ‘धर्मसार’ भरत कहा—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सारु जग होइहि सोई ॥

(रा०च०मा० २।३२३।८)

अर्थात् भरत! तुम जो कहोगे, समझोगे और जे करोगे—वही धर्मसार होगा। प्रायः व्यक्ति जो समझता है, कभी-कभी कह नहीं पाता, कभी-कभी कर नहीं पाता—यह अन्तर्द्वन्द्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसके एकमात्र अपवाद भरतलालजी ही हैं। बहुधा समाजमें अनेक दृष्टान्त देखनेको मिलते हैं कि तथाकथित सेवक ही स्वामीका विनाश कर देता है, ऐसी विकृत परिस्थितिमें सेवकके रूपमें श्रीभरतलालजीका चरित्र प्रकाशस्तम्भका कार्य करता है।

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।

मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ॥

दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

(रा०च०मा० २।३२६ छन्द)

मुनि सुतीक्ष्णजीकी दास्यभक्ति

(श्रीगजाननजी पाण्डेय)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकृत श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें यह प्रसंग आया है कि ऋषि अगस्त्यजीके शिष्य सुतीक्ष्णमुनि मन, वचन और कर्मसे श्रीरामजीके चरणोंके सेवक थे। वनगमनके दौरान जब सुतीक्ष्णजीको यह ज्ञात हुआ कि प्रभु श्रीराम सीताजी तथा लक्ष्मणजीसहित वनकी ओर आ रहे हैं तो उन्हें अति प्रसन्नता हुई और यह भरोसा हुआ कि मैं इन नेत्रोंसे भवबन्धनसे छुड़ानेवाले प्रभु श्रीरामके मुखारविन्दके दर्शन कर पाऊँगा, परंतु फिर मन सशंकित हो गया कि मेरे मनमें भक्ति, वैराग्य या ज्ञान नहीं है और न मैंने सत्संग, योग, जप अथवा यज्ञ ही किया है तो क्या फिर भी प्रभु श्रीराम मुझ अकिंचनपर दया करेंगे, परंतु उन्हें इस बातसे मनमें ढाड़स पैदा हुआ कि जिनका कोई सहारा नहीं होता, उन्हें वे सहारा देते हैं।

प्रभुकी प्रतीक्षामें मुनि सुतीक्ष्णजीको कुछ सूझ नहीं रहा है। उन्हें दिशाभ्रम हो गया, ऐसेमें वे कभी घूमकर फिर आगे चलने लगते हैं और कभी प्रभुके गुण गाकर नाचने लगते हैं। उन्हें यह भी सुध न रही कि मैं कौन हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। दयानिधि श्रीरामजी वृक्षकी ओटमें खड़े रहकर यह सब देख रहे हैं। मुनिके अत्यन्त प्रेमको देखकर भवभयभंजन रघुनाथजी मुनिके हृदयमें प्रकट हो गये। हृदयमें प्रभुके दर्शन पाकर मुनि बीच मार्गमें स्थिर होकर बैठ गये और शरीर रोमांचित हो गया। रघुनाथजी उनकी यह दशा देखकर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने बहुत प्रकारसे मुनिको जगाया, परंतु मुनि नहीं जागे। तब प्रभुने राजरूपको छिपा लिया और अपना चतुर्भुज रूप प्रकट किया।

रमाबाई रानडेकी समाज-सेवा

एक सुशिक्षित पुरुष अपनी निरक्षर पत्नीको कितना उन्नत कर सकता है, यदि स्त्री उसके साथ सहयोग करे—यह रमाबाईके चरित्रसे स्पष्ट हो जाता है। रमाबाईका जन्म सातारा जिलेके कुर्लेकर कुटुम्बमें श्रीमाधवरावजीके यहाँ हुआ था। मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी सन् १८७३ ई० को उनका ग्यारह वर्षकी अवस्थामें न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडेके साथ विवाह हुआ।

रमाबाईने अपनी पूजनीया माता उमाबाईके सम्बन्धमें लिखा है कि वे दिनभर ओषधियोंकी गोलियाँ बनाया करती थीं। उन्हें वैद्यकका अच्छा ज्ञान था। रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा तथा उनको ओषधि देनेमें वे व्यस्त रहती थीं। असमर्थ रोगियोंको घरपर रखकर उनकी चिकित्सा करती तथा रहने और पथ्यका प्रबन्ध भी। रोगियोंके मल-मूत्रादिको धोनेमें उन्हें कभी हिचक नहीं होती थी। ओषधि तथा घरपर रह रहे रोगियोंके पथ्यका व्यय वे स्वयं अपने पाससे देती थीं। माधवरावजीने पत्नीको इस परोपकारमें यथेच्छ व्यय करनेकी आज्ञा दे रखी थी।

रमाबाईने माताके सम्बन्धमें और लिखा है कि सायंकाल बच्चोंको साथ बैठाकर वे पुराणोंकी कथाएँ सुनाया करतीं। बुआ उनका उपहास करती थीं कि बच्चे इन गम्भीर चरितोंको क्या समझेंगे। बड़ी सरलतासे वे उत्तर दे देतीं कि मुझे तो कुत्ते-बिल्लियोंकी कहानियाँ आती ही नहीं। पवित्र चरित्रोंको सुनानेसे अपना हृदय तो पवित्र होता ही है, साथ ही बच्चोंके हृदयमें उत्कृष्ट बीज बोया जाता है। जैसे भूमि होगी, वैसा पौधा हो जायगा। कम-से-कम खराब पौधोंसे तो खेत बचा रहेगा।

रमाबाईके पतिगृह जाते समय उनके पिताने जो उपदेश दिया था, वह भी अनुकरणीय है। उन्होंने कहा था—‘पुत्री! तू जिस परिवारमें जा रही है, वह बड़ा

परिवार है। घरमें विभिन्न प्रकृतिके लोग होंगे। तू अपनी कुलीनताका परिचय देना। तुझे चाहे जितना कष्ट हो, सहन करना। किसीको उत्तर मत देना। किसीसे लड़ना मत। नौकरोंको भी डाँटना मत। तेरे मनको असह्य कष्ट हो, तो भी पतिसे किसीकी निन्दा मत करना। इस प्रकारकी चुगली सर्वनाशकी जड़ है। मेरी इन बातोंपर ध्यान रखेगी तो मुझे प्रसन्नता होगी। इससे विपरीत तेरा बर्ताव मैंने सुना तो मैं फिर कभी तुझसे मिलना भी नहीं चाहूँगा।’

ऐसे सुयोग्य माता-पिताकी पुत्री धार्मिक, परोपकारी एवं सहनशील होनी ही चाहिये। स्वयं रमादेवी इतनी सुशील थीं कि बहुत छोटी अवस्थामें एक बार माताके डाँटनेपर प्रत्युत्तर दे दिया उन्होंने, इसका इतना परिताप हुआ कि वह भोली बालिका चुपकेसे चाकू लेकर भगवान् शंकरके मन्दिरमें पहुँची। ‘प्रभो! माताको प्रत्युत्तर देनेकी अपेक्षा तो मेरा गूँगी हो जाना ही श्रेष्ठ है।’ ऐसा कहकर उसने अपनी जिह्वा काटकर शिवलिंगपर चढ़ा दी। बालिका मूर्च्छित हो गयी। मन्दिरके पुजारीजीने देखा। दौड़कर जीभका टुकड़ा उठाकर उन्होंने उसके स्थानपर चिपकाया। ठीक चिकित्सासे टुकड़ा जुड़ गया।

पतिगृह पहुँचनेपर जस्टिस रानडेने देखा कि पत्नी अशिक्षिता है। उसी दिनसे उन्होंने उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया। रमाबाईकी सास तथा ननदें इस शिक्षाकी विरोधी थीं। वे बार-बार रमाबाईको समझातीं कि पढ़ना बन्द कर दो। इस विरोधसे बचनेके लिये रमाबाई पतिदेवसे रात्रिके पिछले पहरमें पढ़ा करती थीं। रानडेजीने एक स्त्री शिक्षिका रख दी और रमाबाईका अध्ययन तीव्रगतिसे चल पड़ा। मराठीका अभ्यास पूरा होनेपर अँगरेजी प्रारम्भ हुई। रमाबाई एक दिन बर्तन मल रही थी। पासमें पड़े अँगरेजी समाचार-पत्रके टुकड़ेको वे कुतूहलवश पढ़ने लगीं। घरवालोंको उनके अँगरेजी पढ़नेका पता

लग गया। स्त्रियोंमें हलचल मच गयी। अनेक प्रकारके व्यंग्य और ताने सुनने पड़े। रमाबाईने सब सह लिया। पतिसे उन्होंने कभी किसीकी शिकायत न की।

जस्टिस रानडेकी बदली पूनासे नासिक हो गयी। यहाँ आनेपर घरका पूरा भार रमाबाईपर पड़ा। वे प्रातः चार बजे उठ जातीं। अब भी स्वयं चौका-बर्तन करती थीं। भोजन बनातीं और पतिदेवको भोजन कराके उनके कोर्ट जानेके वस्त्र ठीक करके उन्हें देतीं। पुस्तकें तथा लिखने-पढ़नेकी सामग्री भी पतिकी वही ठीक करतीं। भोजनादिसे निवृत्त होकर पढ़ने बैठ जातीं और जस्टिस साहबके लौटनेके पूर्व पाठ सम्पूर्ण कर लेतीं। जज साहबका आठ सौ रुपया मासिक वेतन उनके ही हाथमें आता था। घरके व्ययका पूरा प्रबन्ध तथा हिसाब रखना उन्हींके जिम्मे था। पतिसे पूछे बिना अतिरिक्त व्ययमें कभी एक पैसा भी उन्हींने व्यय नहीं किया। इस प्रकार घरकी पूरी व्यवस्थाका संचालन करते हुए उनका अध्ययन चलता रहा।

इस समय रावबहादुर गोपालराव देशमुख संयुक्त जज थे। रमाबाईको इनके कुटुम्बका अनुकूल संग प्राप्त हुआ। दक्षिणमें चैत्र तथा श्रावणमें स्त्रियाँ परिचित स्त्रियोंके यहाँ जाकर उनको सौभाग्यसूचक हल्दी तथा कुंकुम देती हैं। बदलेमें उनका अंचल भीगे गेहूँ और चनेसे भरनेकी प्रथा है। पतिकी सम्मतिसे रमादेवीने इस हल्दी-कुंकुमके बहाने स्त्रियोंको आमन्त्रित करना प्रारम्भ किया। वे उन्हें सीता, सावित्री, अनसूया, दमयन्ती प्रभृतिके पवित्र चरित्र सुनाकर धर्मशिक्षा देती थीं।

इसी समय सेशन जज मिस्टर कागड़ अपनी स्त्री, सास तथा सालीके साथ नासिक आये। कन्या पाठशालाओंका निरीक्षण करके उन्हें पुरस्कार देनेका समारोह हुआ। नासिकमें एक सभामें स्त्री-पुरुषोंके एकत्र होनेका यह प्रथम अवसर था। पुरस्कार वितरित होनेके पश्चात् अध्यक्षके प्रति आभार-प्रदर्शनका भार रमाबाईपर था। उन्होंने एक लिखित भाषण पढ़ दिया।

इसी समय गोडबोले नामक एक डिप्टी-इन्स्पेक्टरने पुष्पहारोंका थाल रमाबाईके सम्मुख कर दिया। रमाबाईने थाल उठाया। एक-एक हार तीनों यूरोपियन महिलाओंको पहनाकर वे बैठ गयीं। थालीमें एक हार अछूता पड़ा रहा। डिप्टी साहबने उसे मिस्टर कागड़को पहनानेको कहा तो रमाबाईने डाँट दिया—‘आपको लज्जा नहीं आती!’ तुरन्त ही देशमुखजीने उठकर वह माला मिस्टर कागड़को पहना दी।

पतिके पूछनेपर रमाबाईने कहा था ‘मैं ईसाई होती तो मुझे संकोच न होता। मुझे तो क्रोध आ रहा था कि पढ़ा-लिखा ब्राह्मण गोडबोले मुझसे ऐसा अनुरोध कर कैसे सका।’

अनेक स्थानोंमें घूम-फिरकर जस्टिस रानडेकी बदली पूनामें हो गयी। यहाँ पण्डिता रमाबाईसे इनका परिचय हुआ।

सन् १८८६ ई० में रानडे साहब सरकारी कामसे कलकत्ता गये थे। वहाँ कुछ महीने रुकनेकी अवधिमें दम्पतीने बँगला सीख लिया। वे भली प्रकार समाचार पत्र पढ़ लेते थे। देशको शोकसमुद्रमें निमग्न करके जस्टिस रानडे सन् १९०१ ई० में परलोकवासी हुए। उस समय रमाबाईकी अवस्था अड़तीस वर्षकी थी। पतिकी मृत्युके पश्चात् उन्होंने अपना पूरा जीवन परोपकारमें लगाया। सन् १९०६ ई० से वे नगरकी हलचलोंमें भाग लेने लगीं और सन् १९०८ ई० में श्रीयुत गोपालकृष्ण देवधरकी सहायतासे पूनामें उन्होंने ‘सेवा-सदन’ की स्थापना की। अपना सर्वस्व उन्होंने इसी संस्थामें लगा दिया।

सन् १९२४ ई० के पिछले भागमें उन्होंने शरीर छोड़ा। अपनेको वे ‘पतिदेवके श्रीचरणोंका निर्माल्य’ कहा करती थीं। अपने आदर्श पतिदेवके चरण-चिह्नोंका अनुगमन करते हुए सम्पूर्ण जीवन उनका ज्ञानकी प्राप्ति, समाज-सेवा तथा परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

संयुक्त परिवारकी आधारशिला—सेवादर्म

(डॉ० माला द्वारी)

प्राचीनकालसे ही भारतवर्षमें संयुक्त परिवारकी परम्परा चली आ रही है। आधुनिक युगमें भी भारतकी बुनियाद संयुक्त परिवारपर ही टिकी हुई है। संयुक्त परिवारमें एकता और समरूपताके कारण सुव्यवस्थित समाजका निर्माण होता है तथा सुव्यवस्थित समाजसे ही राष्ट्रका निर्माण सम्भव है। सम्प्रति देखा जाता है कि हमारा परिवार संयुक्तसे टूटकर एकलमें परिवर्तित हो रहा है। इसका कारण मानवमें अहंकार, स्वार्थ, संकीर्णता, ईर्ष्या, प्रमाद आदि है। पाश्चात्य जीवनशैलीके रहन-सहनका अनुसरण भी उसमें सहायक है। अहंकार और स्वार्थ केवल ये दो चीजें ही मानवको सेवा-धर्मसे च्युत कर देती हैं। संयुक्त परिवार आकारमें बड़ा होता है, इसमें तरह-तरहके स्वभावसे युक्त लोग रहते हैं। ऐसेमें सभीमें पारिवारिक भावना रहती है, परस्पर सहयोगकी भावना रहती है, आपसी सम्बन्धोंमें आबद्ध रहनेके कारण एक-दूसरेके दुःख-सुखमें सभी सहायक बनते हैं, फलतः वे सुख-शान्तिसे रहते हैं। परिवारमें प्रत्येक मानवके मनमें सेवाभाव होना चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्॥

यह श्लोक सेवाभावके अर्थको द्योतित करता है। आदिकालसे ही सेवाभावकी सीख देनेके लिये भगवान् स्वयं हर युगमें अवतरित होते हैं। भगवान् रामने अपने संयुक्त परिवारके सेवानिमित्त ही चौदह वर्षोंका वनवास स्वीकार किया। इसी प्रकार भीष्मने अपने परिवारकी सेवाके निमित्त ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इसी प्रकार कई उदाहरण देखनेको मिलते हैं। वास्तवमें सेवाका मुख्य अर्थ है आत्मतुष्टि। परिवारके प्रत्येक सदस्यका एक-दूसरेके प्रति समर्पणका भाव होना ही सेवा है और यह भाव तभी आ सकता है जब सभी सदस्योंके मनमें 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' भाव हो। सभी

निःस्वार्थ भावसे एक-दूसरेके दुःख-विपत्तिको बाँटें। जबतक मानवके मनमें 'तत्त्वमसि' का भाव नहीं होगा, तबतक सेवा पूर्ण नहीं होगी। प्राणिमात्रकी सेवाका मूल साधन यही है। यही सच्ची सेवा है। भगवान् भी इसी सेवासे सन्तुष्ट होते हैं। सेवाका मूल अर्थ तुष्टि ही है। प्राणियोंके क्लेशका निवारण करना ही मूल सेवा है। संसारका निर्माणकर भगवान्ने सेवारूपी अनुपम उपहार सभी प्राणियोंको दिया है। हम स्वार्थ और अहंकार तथा स्वामित्वभावके चलते सच्ची सेवा नहीं कर पाते। स्वामित्वभाव ही हमारी सेवाको नष्ट कर देता है। पिता-पुत्रका सम्बन्ध, भाई-भाईका सम्बन्ध, सास-बहूका सम्बन्ध, पति-पत्नीका सम्बन्ध, जेठानी-देवरानी आदिका पावन सम्बन्ध परिवारमें सुख-शान्तिको उपस्थापित करता है। धनके लिये कलह, दैनिक कार्यके लिये कलह, अधिकार-कर्तव्यके अर्थको न समझना, बदलेका भाव, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, बड़ोंका अपमान आदि तत्त्व सेवाभावको नष्ट कर देते हैं। मानवको चाहिये कि 'अहर्निशं सेवामहे' का भाव रखकर विश्वरूपी परिवारकी सच्ची सेवा करे, यही आनन्दोपलब्धिका सर्वोच्च साधन है। एक सद्गृहस्थका लक्षण बड़े ही मार्मिक ढंगसे निम्न सुभाषितके द्वारा उल्लिखित किया जा रहा है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी

सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।

आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे

साधोः सङ्ग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

अर्थात् आनन्दसहित घर, विद्वान् सन्तान, सुन्दरी पत्नी, सच्चे मित्र, सात्त्विक धन, स्वपत्नीमें प्रीति, सेवापरायण सेवक, प्रतिदिन अतिथिसत्कार, देवपूजन एवं भोजनमें मिष्टान्नका प्रबन्ध तथा जिस घरमें साधुओंका संग मिलता रहे और उपासना होती रहे, वह गृहस्थाश्रम

धन्य होता है। 'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य' की घोषणा करनेवाले महावीर श्रीहनुमान्जीकी यह उक्ति एक आज्ञापरक और सेवापरक सेवककी भूमिकाको घोषित करती है। श्रीरामचरितमानसमें भी गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं 'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम ॥' सेवकका सम्पूर्ण चरित्र श्रीहनुमान्जीके जीवनसे प्रतिबिम्ब एवं परिलक्षित होता है—

सेवितव्यो महान् वृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।

यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते ॥

अर्थात् उस महान् वृक्षकी सेवा करनी चाहिये, जो भरपूर छाया और फलसे आकण्ठ आप्लावित हो। यदि दुर्भाग्यवश फल न हो तो छाया तो होगी ही। सेवा सच्ची श्रद्धाके साथ ही की जाती है। श्रद्धाका विवेचन 'वेदान्तसार' में इस प्रकारसे किया गया है 'गुरुपदिष्टवेदान्तवचनेषु विश्वासः श्रद्धा' अर्थात् सद्गुरुद्वारा उपदेश किया गया

वेदान्तादि वचनोंमें विश्वास करना ही श्रद्धा है।

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राभ्यागतो गुरुः ॥

अर्थात् एक सद्गृहस्थके परिवारमें सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये द्वारपर आया हुआ शत्रु भी गुरु-समान होता है। अतएव परिवारमें आत्मीयता, एकता, संगठनात्मक शक्ति इत्यादिकोंके लिये हर एक अभ्यागतकी सेवा गुरुभावसे करते रहनेपर ही हम एक स्वस्थ परिवारकी संरचना करनेमें सक्षम हो सकते हैं। अतः संयुक्त परिवाररूपी मकानकी नींव सेवाद्वारा ही है। सेवाभावसे परिवारमें कलहका निवारण एवं शान्तिकी उपस्थापना होती है। अतएव परिवार समुन्नत एवं सुदृढ़ होता है। परिवार सुदृढ़ होनेपर ही सुव्यवस्थित समाजका निर्माण होता है तथा समाजोत्थानसे राष्ट्रनिर्माण सम्भव है। अतः सेवाद्वारा ही संयुक्त परिवारकी आधारशिला है।

सेवा अस्माकं धर्मः

(श्री बी० एस० रावत 'चंचल')

'सेवा मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्ति है, सेवा ही उसके जीवनका आधार है।' उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दके इस कथनका अभिप्राय युवावस्थाके आगमनपर समझमें आने लगता है, जब व्यक्ति घर-गृहस्थीके जंजालमें उलझने लग जाता है, वह अपनी पत्नी और संतानके लिये बहुत कुछ निःस्पृह भावसे करनेके लिये विवश हो जाता है—किसी बाह्य दबावके कारण नहीं, बल्कि अपनी आन्तरिक प्रेरणाके कारण।

प्रकृतिमें सेवाका नियम अव्याहत गतिसे कार्य करता हुआ दिखायी देता है। सूर्य और चन्द्र विश्वको प्रकाश एवं उष्णता प्रदान करते हैं। वायु जीवनदायक श्वास प्रदान करती है, पृथ्वी रहनेका स्थान देती है, वृक्ष छाया देते हैं आदि। वे ऐसा किसी प्रतिफलप्राप्तिकी भावनाको लेकर नहीं करते, वे तो केवल अपने जन्मजात स्वभाववश ऐसा करते हैं। हम भी दीन-दुखियोंकी

सहायता किसी आन्तरिक प्रेरणावश ही करते हैं। सड़कके किसी कोनेमें पड़े हुए किसी घायल अथवा बेहोश व्यक्तिको उठाकर जब हम अस्पताल ले जाते हैं, तब क्या हम यह सोचते हैं कि वह अच्छा हो जानेपर हमको पुरस्कार देगा अथवा कभी हमारे घायल और बेहोश हो जानेपर यह हमें अस्पताल पहुँचायेगा।

यह सेवाभाव जब सप्रयास विकसित किया जाता है, तब वह व्यक्तिका सद्गुण समाजकी विभूति बन जाता है। जो लोग सेवाभाव रखते हैं और स्वार्थ-सिद्धिको जीवनका लक्ष्य नहीं बनाते, उनको सहयोग देनेवालोंकी कमी नहीं रहती, परंतु गोस्वामीजीकी लिखी पंक्तिका भाव समझिये— 'सेवा धर्म कठिन जग जाना' अर्थात् संसार जानता है कि सेवा करना बहुत कठिन काम है। सेवामें स्वार्थ-त्याग और निरहंकारिता परम आवश्यक है।

घरवालोंकी मार और बिटूके प्रेमने उसे खूब रुलाया।

भगवान् भक्तके आँसू सह नहीं सकते। वे रुक्मिणीको छोड़कर घबराये हुए सखूबाईकी एक पड़ोसिनके रूपमें उसके सामने आये और बोले—‘तू पण्डरपुर चली जा, तेरे स्थानपर मैं बँध जाती हूँ।’ सखू कुछ बोल भी नहीं पायी कि उसकी पड़ोसिन वेषधारी भगवान्ने उसका बन्धन खोल दिया। पड़ोसिनका आभार मानती हुई सखूबाई विट्टल-विट्टल करती हुई पण्डरपुरको चल पड़ी और भगवान् पण्डरीनाथ पड़ोसिनके स्थानपर सखूबाई बनकर खम्भेसे बँध गये।

इधर सखूबाई बने भगवान्को खम्भेसे बँधे और बिना खाये-पिये पन्द्रह दिन बीत गये। उनका शरीर सूखकर पीला पड़ गया था, पर सासके मनमें करुणा नहीं संचरित हो सकी। ‘कहीं मर गयी तो विवाह होना सम्भव नहीं है’ इस भय और स्वार्थसे उसके पतिने बन्धन खोल दिया। अब भगवान्ने सखूबाईके कारण उसके पतिकी डाँट, मार और सास-ससुरकी प्रताड़ना सहन की। एक दिन तो हद हो गयी जब सखूबाईको दाग दिया गया। वाह रे प्रेम! तू क्या-क्या नहीं सहन करता? कन्हैया! तूने सखूबाई बन जलना भी सहन किया।

सखूबाई बने भगवान् खाना बनाते, सास-ससुरकी सेवा करते, पतिके पाँव दबाते और सभी नित्य कर्मका बहू-धर्म निभाते। वाह रे कान्हा! तेरा सख्य भाव! अपनी भक्तके सेवानुरागवश तूने क्या-क्या नहीं किया और क्या-क्या नहीं सहा! सेव्यका सेवकके रूपमें ऐसा अप्रतिम पात्र अन्यत्र कहाँ दृष्टिगत होगा?

सखूबाईकी सेवा-सान्निध्यसे सास, श्वसुर और पतिमें अद्भुत बदलाव आया। आये भी कैसे नहीं? स्वयं भगवान्का सान्निध्य निष्फल भी तो कैसे हो सकता है? धीरे-धीरे ये भोजनकी सराहना करने लगे। कामकी प्रशंसा करने लगे और अन्ततः सखूबाईके प्रति भाव भी बदल गये। दुर्गुण छूट गये और वात्सल्य उत्पन्न हो

गया।

उधर सखूबाई पण्डरपुर पहुँचती है। दर्शनकर कृतार्थ हो जाती है। सखूबाई प्रण करती है कि इस शरीरसे वह पण्डरपुर छोड़कर कभी नहीं जायगी। भाव-विभोर सखूबाई यात्रा-श्रम और भूख-प्याससे जर्जर हो जाती है और मन्दिरमें ही ढेर हो जाती है। प्राणविहीन शरीर निढाल हो पृथ्वीपर गिर पड़ता है। तेज-से-तेज मिल जाता है। उसे यों गिरते देख अन्य श्रद्धालु नजदीक आते हैं। पड़ोसी गाँवोंसे आये लोग उसे पहचान जाते हैं। अरे भई, यह तो फलां भाईकी पुत्रवधू है। बहुत बुरा हुआ।

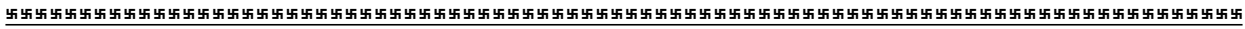
पुजारीजी एवं मन्दिर-प्रबन्धक सखूबाईकी उत्तर-क्रिया करते हैं और पड़ोसी गाँवके यात्री उसकी अवशिष्ट अस्थियाँ ले अपने गाँवोंको लौट जाते हैं। इधर भगवती रुक्मिणीजी घबरायीं कि ‘यह तो खूब रही। उधर स्वामी सखूबाई बनकर उसके परिवारकी सेवा कर रहे हैं, इधर सखूबाईकी अन्त्येष्टि हो गयी। तुरन्त आकर उन्होंने सखूबाईकी अस्थियाँ एकत्रितकर उसे पुनर्जीवित कर दिया और उसे घर जानेको कहा।’

इधर जब यात्री अपने गाँव जाते हैं तो दूसरे दिन प्रातः सखूबाईकी अस्थियाँ ले उसके घर जाते हैं, यह समाचार देने कि आपकी बहूका तो मोक्ष हो गया। सास-ससुर घरपर हैं। पति भी काम कर रहा है और तभी सामनेसे सिरपर गगरी रखे सखूबाई आ रही है। सभी स्तब्ध! यह कैसा करिश्मा है? विश्वास नहीं होता—सच यह है कि वह, जो हमने देखा है।

तबतक असली सखूबाई आती है और नकली सखूबाई (भगवान्) कुँएसे ही पधार जाते हैं। भगवान्की इस सेवाको हम क्या नाम दें!

(२)

कन्हैयाकी ऐसी ही एक सेवा-बानगीके लिये आइये, गुजरात चलते हैं। बात बहुत पुरानी नहीं है। बड़ोदरा रियासत। सयाजी राय गायकवाड़का शासन। छाणी गाँवकी पाठशालामें मनसुखरायजी अध्यापक थे,



वे बड़ी लगन और निष्ठापूर्वक शिक्षण-कार्य निष्पादित करते थे। परिवार सामान्य था, पर साधुता थी। मनसुखराय यदा-कदा साधु-बाबाओंको भटकता देख अपने घर बुला लेते। देवीजी क्रोधित तो होतीं, लेकिन निभा लेती थीं। गुरुजीकी बड़ी इज्जत थी तथापि मुखियाजीसे अनजानी अनबन रहती थी। मास्टरजी ईमानदार जो ठहरे।

एक दिन विद्यालयमें निरीक्षक महोदय आये। मनसुखरायजीका काम और व्यवहार देख प्रसन्न हो गये। बच्चोंका ज्ञान परखनेपर सन्तोष मिला तो अच्छी टिप्पणी लिख वेतनवृद्धिकी सिफारिश भी कर गये। मुखियाजीको यह रास नहीं आया। किसी अन्य निरीक्षणकी प्रतीक्षा करने लगे।

मनसुखरायजीके इष्ट श्रीरणछोड़राय थे। वह हर पूर्णिमाको अपने आराध्यके दर्शन करने डाकोर जाया करते थे। बड़ोदरासे आणंद जंक्शन और आणंदसे गाड़ी बदल डाकोर जाना होता था। इसमें दिनभरका समय लगता और इसीलिये गुरुजी इस दिन अवकाशपर होते थे। अवकाशका प्रार्थना-पत्र मुखियाजीसे अनुमोदित करवाना पड़ता था।

आज पूर्णिमा थी। मुखियाजी इस दिनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने निरीक्षक महोदयको बुलवा लिया। अपने यहाँ लड्डूका भोजन कराया और पाठशाला भेजा। वह जानते थे कि अर्जी मैंने स्वीकार नहीं की है और मनसुखराय पक्के वैष्णव हैं। वह डाकोर जायँगे ही।

मनसुखराय दुखी मनसे विद्यालयसे रवाना हुए और डाकोर पहुँच अपने आराध्यके दर्शन कर रहे हैं। लेकिन उन्हें लगा कि आज रणछोड़रायके विग्रहमें कान्ति नहीं है। उन्होंने बार-बार अपनी आँखें मलीं फिर भी परिवर्तन नहीं हुआ तो वह अनमने मनसे वापस लौटने लगे। तभी विग्रहकी आभा लौट आयी और मनसुखराय तृप्त-प्रसन्न मनसे लौटकर स्टेशन आये।

डाकोर से आणंद आये। यहाँ गाड़ी बदलनी थी, अतः प्लेटफार्मपर धीरे-धीरे चलकर दूसरी ओर जा रहे थे और शालामें क्या हुआ होगा, यह सोच-सोचकर दुखी हो रहे थे।

उधर मुखियाजी के लड्डू खाकर निरीक्षक महोदय पाठशाला पहुँचते हैं। देखते हैं कि शाला व्यवस्थित, अनुशासित चल रही है। अध्यापकजी पढ़ा रहे हैं और बालक ज्ञानार्जन कर रहे हैं। वह तो आकण्ठ प्रसन्न हो गये और सन्तोषजनक टिप्पणीके साथ पाँच रुपये वेतनवृद्धि भी अनुमोदित कर गये।

निरीक्षणोपरान्त निरीक्षक महोदय (मुखियाजीकी) घोड़ा-गाड़ी से बड़ोदरा गये। आज शनिवार होनेसे घर जानेके लिये स्टेशन जाकर गाड़ी पकड़ी और रवाना हुए। गाड़ी आणंद पहुँची। सहसा चिन्तित मनसुखरायपर उनकी निगाह पड़ी। पुकारा—मनसुखरायजी!

मनसुखराय इधर-उधर देखने लगे कौन पुकार रहा है? देखा तो भौचक्के रह गये निरीक्षक महोदय, हाथ जोड़ प्रणाम किया। कुशलक्षेम पूछी और चायका आग्रह किया।

निरीक्षक महोदयको मनसुखरायका यह बर्ताव आश्चर्य प्रदान कर रहा था, बोले—अरे! दिनभर तो साथ थे और अभी और आग्रह? मनसुखराय समझे नहीं। बोले—क्षमा करना साहब, मैं आज अवकाशपर था। पूर्णिमा होनेसे डाकोर गया था और वहींसे लौट रहा हूँ। निरीक्षकने आश्चर्य व्यक्त करते हुए उलाहना दिया—‘क्यों क्रीड़ा करते हो मास्टरजी, मैं तो आज आपके विद्यालयमें आपके साथ ही तो था। हमने साथ मिलकर सभी गतिविधियाँ करवायीं। रिकार्ड देखा। बच्चोंकी परख ली। पाँच रुपये वेतनवृद्धि भी लिखी और यह क्या कह रहे हो?’

मनसुखराय स्तब्ध! समझते देर नहीं लगी कि आज रणछोड़रायके विग्रहमें ओज क्यों नहीं था। वे फफककर रो पड़े। बोले—वाह रे दीनानाथ! तूने आज

मेरे लिये अपना धाम छोड़ा। मेरी लाज बचाने तू आज मनसुखराय बन गया और छाणी पहुँचा। मनसुखराय निःशब्द निढाल लेकिन निहाल हो गये।

सँभलते तबतक गाड़ी आ गयी और मनसुखराय उसमें चढ़ गये। निरीक्षक महोदय भी अवाक् रह गये। क्या वह रणछोड़रायके साथ रहे आज दिनभर। पुलक समा नहीं रहा था। दोनों गाड़ियाँ विपरीत दिशामें अपने गन्तव्यके लिये आगे बढ़ गयीं।

छाणी पहुँच मनसुखराय विद्यालय गये और आर्त स्वरमें अपने इष्टको पुकारते स्मरण करते घरको गये। उनका रोम-रोम रोमांचित हो रहा था। सर्वत्र रणछोड़ ही दिखायी दे रहे थे।

धीरे-धीरे यह चर्चा घर-आँगन, चौराहे और चौराहेसे गाँव और गाँवसे बाहर होती गायकवाड़ महाराजके कानोंतक पहुँची और आज भी यह कीर्तिपताका फहर रही है। समय न इसे मिटा पाया न मिटा पायेगा। यह है—आराध्य—सेव्यका सेवकरूप। जय रणछोड़!

(३)

महाराष्ट्र और गुजरातके बाद अब पूरबमें चलते हैं। पण्डित विद्यापतिमिश्र अनोखे शिवभक्त थे, जो सदा अपने आराध्य शिवके पद लिखते रहते थे। काव्य इतना भावपूर्ण होता था कि देवाधिदेव महादेव भी उसे सुननेको लालायित रहते थे। यही कारण था कि भगवान् भोलेनाथ अपने भक्तकी चाकरी करनेसे भी नहीं हिचकिचाये।

पण्डितजी अपने घरमें बैठे लेखनमें व्यस्त हैं। उनके यहाँ एक व्यक्ति कामकी इच्छासे आता है और आग्रह करता है। विद्यापति बड़े ही सहज व्यक्ति थे। कहते हैं—‘भैया, मेरे यहाँ तो कोई कार्य है नहीं। मैं तो बस शिवाराधन करता हूँ। मेरे क्या काम है?’

‘कुछ नहीं तो मैं यही काम कर लूँगा। आपकी स्याही भर दूँगा।’

‘अरे भई, यह तो क्या काम है? यह तो मैं स्वयं

कर लेता हूँ।’

‘नहीं पण्डितजी, मुझे तो अपनी सेवामें रख ही लीजिये। आपका काम पूराकर पण्डिताइनजीके काममें हाथ बटाऊँगा। बाजार जाऊँगा, राशन लाऊँगा और कुछ भी काम नहीं हुआ तो आपके यहाँ झाड़ू लग दूँगा, लेकिन मुझे निराश न कीजिये।’

पण्डितजी अधिक ना-नुकूर न कर सके और कहने लगे—‘अच्छा भैया, एकसे भले दो। रहना और मेरा हाथ बँटाना।’

आगन्तुक प्रसन्न हो गया।

‘तुम लोगे क्या?’ पण्डितजीने पूछा।

‘कुछ नहीं। खाना-पीना और कभी लँगोट। मुझे और क्या चाहिये।’

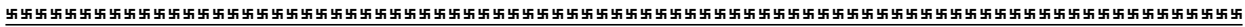
‘अच्छा भैया, यह तो बताओ तुम्हारा नाम क्या है?’

‘उधना।’ जवाब मिला।

अब घरमें तीन व्यक्ति हो गये—विद्यापति, उनकी पत्नी और नौकर उधना। दिनचर्या बढ़ने लगी। खाना-रसोई पण्डिताइनको सँभालनी थी। पण्डितजी लिखते थे और उधना उनके तकिया-चद्दर साफ कर देता। कलम सँभालता और स्याही भर देता। बचे समयमें पण्डिताइन उधनासे झाड़ू लगवा लेतीं।

नित्यप्रतिकी यही दिनचर्या थी। एक दिन पण्डितजीको बाहर जाना था। सेवक उधना भी साथ जानेको तैयार हो गया। सेवक तो स्वामीके साथ ही जायगा न? तैयारियाँ हुईं और अगले दिन प्रातः स्वामी-सेवकका प्रयाण हुआ। स्वामी आगे, सेवक पीछे।

थोड़ी दूर जानेपर दिन निकल आया। सूर्यदेव अपनी प्रचण्डतासे गर्मी प्रदान कर रहे थे। अतः उधनाने धूपसे बचनेके लिये पण्डितजीपर छतरी धर दी। पण्डितजी उधनाकी सेवासे सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। वार्तालापके साथ पद भी गाये जाने लगे और स्वामी-सेवक सानन्द आगे बढ़ने लगे।



जंगल, भरी दुपहरी और चलनेके श्रमसे पण्डितजीको प्यास लगनेसे साधका पानी समाप्त हो चला। पण्डितजीको पुनः प्यास लगी। आस-पास कुँआ या अन्य स्रोत तलाशा गया। बहुत दूर-दूरतक देखनेपर भी कहीं पानी नहीं मिला तो उधनासे स्वामीका कष्ट देखा नहीं गया और छाता उन्हें दे 'अभी आता हूँ' कह पानी लेने चल दिया।

थोड़ी ओट पड़नेपर उधनाने अपने दाँयें पैरका अँगूठा पृथ्वीपर दबाया। तत्काल गंगाजी प्रकट हो गयीं और पात्रमें समा गयीं। उधना लोटा लेकर विद्यापतिजीके पास आया और जलका आग्रह किया।

जैसे ही पण्डितजीने जल अपने मुँहमें डाला, स्तब्ध रह गये। इतना शीतल और अनुपम स्वाद। पण्डितजीको सन्देह हो गया कि यह उधना कोई विलक्षण ही है। आस-पास नजर दौड़ायी। कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी। पण्डितजी पूछ बैठे—

‘उधना! जल कहाँसे लाया?’

‘जी, पासहीके एक कुण्डसे।’

‘चल, मुझे ले चल वहाँ।’

उधनाने बहुत अनुनय-विनय और टालमटोल की, लेकिन पण्डितजी कहाँ माननेवाले थे। उनका सन्देह विश्वासमें बदल गया। वह हठ कर बैठे।

हठकी विजय हुई। उधना निरुत्तर हो गया तो पण्डितजीकी आँखें छलछला आयीं—‘उधना! तुम कौन हो?’ महामृत्युंजय भगवान् आशुतोष असत्य भाषण कैसे करते? सत्य अवतरित हुआ। विद्यापतिके आगे उनकी एक न चली और शिवको अपना स्वरूप प्रकट करना पड़ा—‘विद्यापति! मैं तुम्हारी सेवामें उधना बना तुम्हारा आराध्य शिव हूँ। वत्स! तुम्हारा प्रेम और भावभिगोया काव्य-रस मुझे तुमसे दूर न रख सके और इसलिये इसी रूपमें आना पड़ा, पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो।’

विद्यापति अवाक्! साष्टांग दण्डवत् अपने आराध्यके चरणारविन्दमें लोट गये और चरण पकड़ लिये—‘प्रभु!

क्षमा करें। मुझसे यह क्या हो गया।’ शिवजीने उन्हें उठाया और हृदयसे लगाया। ‘वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ।’

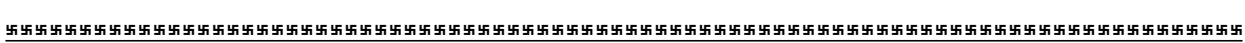
‘नहीं प्रभु! यह अकृपा न करें। मुझे विलग मत करिये। मेरे भाग्य खुल गये तथापि मैं समझ नहीं पाया। मुझे धिक्कार है, मैंने आपसे सेवा करवायी।’ महादेवजी बोले—‘वत्स! इसीमें मेरी प्रसन्नता थी। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। अतः उठो और क्षोभ न करो। अपने गन्तव्यको प्रस्थान करो।’

‘नहीं प्रभु! मैं आपको छोड़ कहीं नहीं जाऊँगा।’ विद्यापति बोले।

अत्यन्त अनुनय-विनयके पश्चात् भक्त और भगवान्में एक समझौता हुआ कि ‘मैं अब भी उधना बनकर तुम्हारी सेवामें रह सकता हूँ, लेकिन जिस दिन यह रहस्य खुल गया, मैं तुम्हें छोड़ चला जाऊँगा।’ प्रेमविह्वल विद्यापतिको यह अनुबन्ध स्वीकार करना पड़ा और गन्तव्य अर्जितकर स्वामी-सेवक घर लौट आये।

नित्यप्रति शिवसांनिध्यसे विद्यापतिका हृदय अतिशय प्रसन्न था तथापि अपने आराध्यद्वारा सेवा करवानेसे उनका मन भीतर-ही-भीतर कचोटने लगा। वचनबद्ध थे इसलिये निभाते रहे, लेकिन सावधान रहने लगे कि उधनासे कोई ऐसा-वैसा कार्य न करवाया जाय और न ही कोई दुर्व्यवहार हो जाय। इसी ऊहापोहमें सेव्य और सेवक एक-दूसरेको निहारते और प्रसन्न होते नित्यचर्यामें परो गये।

एक दिन बड़ा कौतुक हुआ। किसी अपूर्ण या अप्रिय कामसे पण्डिताइनजी उधनासे नाराज हो उसे झाड़ूसे मारने लगीं। उधना इसे सहजतासे लेता अपने स्वामीका कर्तव्य निभा रहा था, लेकिन विद्यापति तो सत्य जानते थे। उनसे नहीं रहा गया और वाचा फूट निकली—‘अरे भाग्यवान्! यह क्या अनहोनी कर दी? जानती हो, ये कौन हैं? ये मेरे आराध्य भगवान् आशुतोष सदाशिव हैं और विद्यापति शिवके चरणोंमें



लोटकर अनुनय-विनय करने लगे, लेकिन शिव तो शिव ठहरे। वचनभंग होते ही अन्तर्धान हो गये।

विद्यापति अचेत हो गये। पण्डिताइन भी दुखी हुई, लेकिन उधना अब वहाँ नहीं था। तभीसे विद्यापति आठों याम उधना-उधनाकी रट लगाते रहे और पागलोंकी तरह उनके विरहमें अनेक छन्द लिख गाते रहे और ढूँढ़ते रहे, लेकिन उधनाको नहीं आना था, नहीं आया।

‘उधना! तुझ बिना न आये चैन’ आदि अनेकानेक पद आज भी सेव्य और सेवककी मार्मिक स्मृति प्रदान करते हैं। तदनन्तर विद्यापति अस्वस्थ हो गये और कहते हैं, हठी भक्त कवि विद्यापतिके इच्छानुसार गंगा मैया चार मीलका रास्ता बदलकर उन्हें लेने उनके गाँव आयीं। आज भी यह गंगधार प्रसिद्ध है। यह है सेव्यका सेवाभाव।

(४)

भक्तवाटिका पण्डरपुरकी ही धरतीका प्रसंग है। श्रीदामाजी नामसे यहाँ एक मर्यादित वैष्णव भक्त हो गये हैं, जिनके लिये स्वयं भगवान् विट्ठलने दामाजीका रूप लिया। घटना कुछ इस प्रकार है—

दामाजी नित्यप्रति ‘बिठोबा’ के दर्शनकर अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करते थे। प्रतिदिन विट्ठलके मन्दिरके आगे जाकर खड़े रहते और दूरसे ही दर्शन-सुख प्राप्त करते थे, लेकिन अन्तरंग इतने कि स्वयं विट्ठल उनके हृदयमें समा गये थे।

एक बार दामाजीका लगान भरना बाकी रह गया। प्रायः भक्तोंकी आर्थिक स्थिति ऐसी ही होती है। हो सकता है यह ईश्वरका उनपर अनुग्रह ही हो। हाँ तो लगान बाकी रहनेसे राजाके सिपाही उन्हें लेने आये।

दामाजी गहरी निःश्वास छोड़ कहने लगे—‘अब भर दूँगा, कृपया थोड़ा समय दीजिये।’ सिपाही कहते हैं—‘ऐसा नहीं हो सकता। कई बार माफ किया गया है। अब तो तत्काल उपस्थित करनेकी राजाज्ञा है।’ दामाजी चलनेको तैयार हुए। कहते हैं—‘चल रहा हूँ। एक बार विट्ठलके दर्शन कर लूँ फिर चल देता हूँ।’

लेकिन सिपाही नहीं माने और दामाजी को बेड़ियाँ पहना दीं। वह बार-बार अनुनय करते रहे कि एक बार मन्दिर जाकर दर्शन करने दें, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। लाचार दामा बन्दी बन मन-ही-मन विट्ठलका स्मरण करते, आर्द्र होते अनुगमन करते हैं।

इधर, बड़ा ही विचित्र प्रसंग हो गया। वाह प्रभु! तेरी माया अपरम्पार है। भक्त तो भगवान्के हृदय होते हैं, वे कैसे अपने भक्तका अपमान सह सकते हैं। परमपिताने दामाजीका रूप लिया और राजदरबार पहुँचे। बोले—‘श्रीमान्, मैं दामा हूँ। कृपया राशि बतायें, लगान भरना है।’ और लगान भर गया। सेव्यने सेवककी मर्यादा रख ली और अपने स्वभाववश अन्तर्धान हो गये। कैसा है भगवान्का स्वभाव, कहा नहीं जा सकता! तभी वह अगम, निर्विकार, परब्रह्म हैं। भक्तके लिये यह तत्परता ही ईश्वरका ईश्वरत्व है।

उधर जैसे ही बन्दी दामाको लेकर सिपाही दरबार पहुँचे, सभी हक्के-बक्के रह गये। कोषाधिकारीने कहा—‘यह क्या हो रहा है?’ ये कौन है और इसे यों घसीटा क्यों जा रहा है?’ जवाब मिला—‘हुजूर! यह दामा है, इसका लगान बाकी है, अतः उपस्थित है।’ कोषाधिकारीने कहा—अभी तो ये लगान भरकर गये हैं, और इन्हें बन्दी बना वापस क्यों लाये हो?

सभी स्तब्ध! दामाजीका तो कहना ही क्या? बेड़ियाँ-बेड़ियाँ सब भूल गये। आर्तस्वरसे बोल पड़े—‘धन्य प्रभु! मेरे लिये आपने इतना कष्ट उठाया। मेरा रूप धरकर पैदल श्रम किया।’ और उनके अश्रुओंका पारावार न रहा। ‘अनुग्रहाय भूतानाम्’ स्वतः सिद्ध हो गया।

यह है लीलाधरकी लीला ‘सेव्यद्वारा सेवककी सेवा’। सुलभा, जना, सेना, नरसी, कूर्मदास-जैसे अनेकानेक नाम और प्रसंग ईश्वरके ईश्वरत्वको प्रकट करते हैं और शक्तिमान्के सेवास्वरूपका बखान करते नहीं अघाते कि ‘ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥’ (रा०च०मा० १।१४४।७)